# उनतालीस वर्ष

मूल लेखक
कर्नल नरेन्द्रपाल सिंह

अनुवादक
श्याम विग

प्रकाशक
साहित्य संगम
लुधियाना

उनतालीस वर्ष

जुलाई

१६५६

पहला संस्करण

११००

प्रकाशक :

स० जीवन सिंह एम० ए०

साहित्य संगम, लुधियाना

मुद्रक :

स० जीवन सिंह एम० ए०

लाहौर आर्ट प्रेस,

लुधियाना

मूल्य ५ रुपये

प्रभजीत

के नाम।

"ज्योति मेरे जीवन में आई, सारा जीवन, सारा जगत्, धरती आकाश जैसे एक ताल में बंध गए। उसके नशीले नयनों, मधुर संगीत, पवित्र भावों और सुन्दर स्वप्नों में मुझे एक सरल, व्यापक हल्केपन का फैलाव होता मालूम हुआ। मुश्किलें आसान हुईं, चिन्ताएं समाप्त हुईं, उलझनें सुलझ गईं, अन्तरात्मा की एक अदृश्य शक्ति के कारण सारी उदासीनता और सारे भय लुप्त हो गए।

ज्योति आई और मेरे बचपन की शोकपूर्ण स्मृतियों पर किसी रंगीन-भाव का प्रकाश बिखर गया। पिता जी का अन्त एक सुखकर रूप धारण करके मेरे सामने आया। मुझे मेरा यश फिर से मिला, हल्दी की जीत प्यारी लगने लगी, पानीपत की याद रसमयी हो गई।

ज्योति मेरे जीवन में आई, और जैसे चाव और उत्साह की बाढ़ मेरे शरीर, मेरे भावों में रच गई। मेरा दिल अपने आपको देश-जाति और अपने साथियों पर न्योच्छावर करने को होता था। मैंने अपने भीतर एक अथाह बल का स्रोत अनुभव किया। मुझे अपने गिर्द बिखरे एक तेज का आभास हुआ और मुझे लगा, जैसे इस तेज का प्रकाश भविष्य में कभी अनिश्चित या धुंधला नहीं होगा।

(पृष्ठ—२१२)

# उनतालीस वर्ष

इसी लेखनी से--

| | |
|---|---|
| सेनापति | [उपन्यास] |
| मल्लाह | [उपन्यास] |

# प्राक्कथन

प्रत्येक जीवन एक चमत्कार है, परन्तु हर जीवन-कहानी उससे भी बड़ा चमत्कार। आज जब मैं चालीस वर्षों के ऊंचे शिखर से अतीत के उनतालीस वर्षों को अपने पैरों तले बिछे हुए देखता हूं; तो चकित हुए बिना नहीं रह सकता। यदि मैं स्वयं इन खुली और रमणीय घाटियों में से दृढ़ता और विश्वास के साथ डगमगाता, खिसकता, मुग्ध और आनन्दित होता हुआ गुज़र कर न आया होता, तो शायद आज मैं अपनी आंखों पर विश्वास न करता।

हां, अतीत के ये उनतालीस वर्ष मेरे अपने ही हैं। मैं स्वयं अनेक रंग बदलता हुआ जीवन-सीढ़ी के उनतालीस डंडों पर चढ़ता हुआ आया हूं।

आह, कैसे दिन थे वे जो बीत चुके।

कभी, खिलती बहार में, वक्त गुज़रते थकता ही न था। आशा के पंखों पर उड़ता हुआ कई बार समय को दांत दिखाता, मज़ाक करता रहा और निराशा उदासी के वेगों से भरी काली घटाएं कई बार समय के चक्कर की राह रोक रुक जाती रही हैं जब कि दिनों का बीत जाना सुगम न था।

एक-एक दिन एक कहानी था और एक एक घटना एक जिन्दगी प्रतीत होती थी।

किन्तु आज ? आज अपने पैरों तले बिछे उनतालीस वर्षों में से कुछ एक पत्र-पुष्प मनोहर वृक्षों के झुंड में छिपे नजर आते हैं, कुछ अर्द्ध-विस्मृत दृष्टियां, धुंधली यादें, कुम्हलाई घटनाएं ही विचारों के चरणों की अगम्य गति को रोक सकने के योग्य हैं। कुछ एक धरती झुलस देने वाले स्थल, जिन्हें लांघते हुए मैं, आशा और आनन्द की कमी के कारण, झुलस सा गया था, इस शिखर से नजर आ जाते हैं।

आज जब स्याही-सिक्त लेखनी मेरे हाथ में है और मुझे लगता है कि मैं गुजरे उनतालीस सालों को अपनी मुट्ठी में बन्द कर सकता हूं, एक २ दिन का महा विस्तार आगामी गिनती के पृष्ठों की संक्षेपना में लुप्त हो जायगा।

किन्तु इन निर्जीव पृष्ठों में एक जीवित मनुष्य की कहानी है, एक धड़कता दिल है; कंपित लालसा और बोलती आत्मा !

इस जीवन ने प्यार किया है, प्यार करवाया है। यह जीवन घृणा और क्रोध की अग्नि में भी कई बार झुलसा गया है। इस जीवन ने लोक-पीड़ा को निज की ही समझा है। दूसरे से हुई जोर-जबरदस्ती को अपने साथ हुई सीना-जोरी समझ कर आवाज उठाई है।

तलवार की मूंठ पर पले हाथ पतली कलम से पूरा न्याय नहीं कर सकते पर मैंने अपने हाव-भावों को योग्य शब्दो में प्रकट करने का प्रयत्न किया है। और यदि कोई इन पृष्ठों में मेरी प्रशंसा एवं प्यार के लिए कुछ न पा सके तो भी मेरी ज्योति का उल्लास तो मेरा अपना है। नीलकंठ चाहे इस कहानी को पढ़ नहीं सकेगा परन्तु वह मेरी शुभ इच्छाओं का पारावार तो पा सकता है, और मैं भी उसका सूक्ष्म प्यार आज तक अनुभव कर सकता हूं। चित्तरंजन

और पृथ्वीसिंह के ओठों पर खेलती, सराहना करती मुसकराहट का मुझे विश्वास है। मेरा हेमन्त और मेरी कपिला अवश्य इसे अपने जीवन का भाग समझेंगे। और मेरी रोहिणी, शकुन्तला——! काश वे जान सकें कि मैंने उन्हें कितना प्यार किया है। महामन्त्री सत्वेन्द्र, राणा सवाए सिंह, सरदार मान सिंह मुझे लगता है कि वे स्वयं और उनका अपार स्नेह सदा मेरे साथ है।

जीवन में एक चांद की चमक ही कम नहीं होती, और जहां तारों का मीठा मीठा प्रकाश भी हो ———?

राणा कुमार सिंह

# १

जीवन के ज्वार भाटे में अपना पहला क़दम मैंने अपने आठवें साल के आरम्भ में रखा। भाग्य से पहली लहर ज्वार की लहर थी। उठते वेग के बहाव ने सहसा मुझे मनोहर किनारे से उठा कर दूर एकाकी जा पटका। न वह तट की हरियाली रही, न वह पत्थरों पर फिसलती पतली पतली लहरों के साथ वह प्यार रहा और न ही रहा किसी की मधुर व ऊष्म गोद का स्वाद।

कुछ ऐसे भी होंगे जिनकी स्मृति आठ वर्षों से पूर्व तक भी उनका साथ देती होगी, पर मेरे लिए वे वर्ष किसी बेनाम विस्मृति में गुजरे प्रतीत होते हैं। कुछ स्मृतियाँ अवश्य हैं—जैसे एक निर्जन जंगल की वह रात जब हमारे ऊपर एक शेर ने हमला किया था और मेरे पिता जी के एक ही वार ने उसे चित्त कर दिया था, या सफेद और लाल 'पिड़ियों' (धागों की गांठों की जंजीर) से सजी मेरी कमान जो विशेष कर मेरे लिए बनवाई गयी थी और जिसके साथ मैंने पहले ही दिन अपने साथियों को आश्चर्य चकित करते हुए हरियल (पक्षियों) का जोड़ा मारा था, और हां कुछ एक और।

पर वह वक्त, जब मुझे सर्वदा गतिशील समय का अनुभव हुआ, जब मैं आस पास की एक अनोखी कठोरता से घबराया, वह मेरे आठवें वर्ष में था।

इस तरह महसूस होता था जैसे गहरी नींद में से किसी ने चिकोटी काट कर जगाया हो।

* * * * *

उस समय हम सब जैसलमेर में रहते थे–, मैं, मेरे पिता, राहू, उसकी पत्नी लक्ष्मी और उनका बच्चा कुन्दन तथा नील कंठ।

मेरे पिता, सरदार मान सिंह भले ही यौवन की प्रफुल्लता गवाँ चुके थे, पर बुढ़ापे के चिह्न अभी पूरी तरह साकार नहीं हुए थे। उनके चेहरे पर झुर्रियाँ तो अवश्य पड़ गई थीं पर आंखों में चमक पहले जैसी ही थी। अनेक बार वह सिर नीचा करके बैठे रहते, और कितनी बार चलते फिरते भी उनकी गर्दन नीचे रहती, पर जब कभी भी वह अपना गोल भरा हुआ चेहरा ऊपर उठाते तो उनके माथे पर तेज दमकता।

निश्चय से नहीं कह सकता कि मेरे पिता जी की उम्र उस समय कितनी रही होगी, पर मेरा विचार है कि वह पैंतालीस से गुजरे ही होंगे। उनका कद ऊंचा था और शरीर भारी, पर गठा हुआ। उनके समूचे व्यक्तित्व में एक अविस्मरणीय, त्रस्त कर देने वाला और दिल खींचने वाला प्रभाव था।

राहू मेरे पिता जी का सेवक था। वह पतला, लम्बा, शीशम की लकड़ी की भांति गठीला एक अद्भुत मनुष्य था। अपने सिर पर वह एक छोटा सा 'पटका' बांधा करता था जिसे बार बार उतारने और बांधने की उसे पुरानी आदत थी।

"राहू, इधर आओ न——" मैं उसे पुकारता तो वह जवाब

देता "जी आया——" और साथ साथ पटका उतार कर उसे छांटने लग जाता।

"राहू, तुझे पिता जी ने कुछ सन्देशा कहा था?" "सन्देशा... हां वह—" और वह पटका खोल कर जल्दी जल्दी बाँधना शुरू कर देता। जब मैं उससे पूछता कि वह अपना पटका बार बार उतार कर क्यों बांधता रहता है, तो उस वक्त भोला राहू पटका उतार कर बांधने लग जाता और कहता "कब कोई? आप तो कुमार जी वैसे ही मजाक करते हैं——।"

पता नहीं वह कब से मेरे पिता जी के पास था।—पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि पिता जी उसके साथ बहुत स्नेह करते थे और उसके साथ उनका व्यवहार मित्रों जैसा था।

लक्ष्मी राहू की पत्नी थी, पर बड़ुध लड़ाकी। बहुत ऊंचा बोलती, बहुत तेज़ चलती, बड़ी गुस्सैल और बहुत गन्दी, पर हां, वह यथार्थ में बुरी नहीं थी। बचपन में बेशक मुझे उसके सांवले रंग, भेंगी आंखों और गुस्सैल स्वभाव के कारण उससे डर लगा करता था! मैं राहू से कहता——"राहू, यदि मैं राहू होता तो कभी इस जैसी लड़ाकी औरत से शादी न करता——।" तब वह उत्तर देता——" आप क्या जानें कुमार जी, लक्ष्मी स्वभाव की ज़रा कटु है, पर दिल से मीठी है।" काफी देर बाद मुझे इसकी सच्चाई का पता लगा।

कुंदन, राहू और लक्ष्मी का पुत्र था। चार साल की उसकी उम्र थी और वह मेरे बचपन का सजीव खिलौना था। यदि कोई कहे कि बच्चे की सुन्दरता मां बाप की सुन्दरता पर निर्भर है तो कुन्दन के सुन्दर नक्श उसे झूठा कर देंगे।

सब से बढ़ कर हमारे परिवार का जरूरी अंग था—नील कंठ के नाम ने मेरे साथ आयु भर की सांझ स्थापित कर ली

है। नील कंठ नाम ही मुझे इतना प्यारा लगता है कि उससे अलग होना मैं असम्भव समझता हूं। प्रतीत होता है कि नीलकंठ मेरे कुत्ते की तरह सदा मेरे साथ रहता है।

नीलकंठ मेरा घोड़ा था।

नीलकंठ घोड़ों की श्रेणी का राजकुमार था। हाथ लगते ही मैला होता, चलते ही पांव घिसते पर इसके विपरीत नीलकंठ की मजबूती, सहन शक्ति और मेहनत करने की समर्थता! हां, नीलकंठ सा घोड़ा न पैदा हुआ है और न कभी पैदा होगा। नीलकंठ लम्बा था, ऊंचा और सुन्दर तथा हर बात से इन्सानी चुम्बनों का अधिकारी। उसके मस्तक, उसकी वाईं और दाईं कमर पर सफेद निशान थे, ऐसे जैसे कि किसी परियों के देश के चित्र हों। उसका शरीर सुन्दर था, उसका अंग अंग सुन्दर था और उसका प्रभाव सुन्दर था।

नीलकंठ, प्यारा नीलकंठ! अपनी सुन्दर गति के साथ वह पुनः पुनः इन पृष्ठों में आएगा।

* * * *

घटनाएं होती हैं किन्तु छूती, महसूस तक नहीं होतीं। लगता है कि नियमानुसार सब कुछ स्वाभाविक गति से चल रहा है। कोई परायापन नहीं, कोई विशेषता नहीं, कोई मुश्किल नहीं! उनका न होना कल्पना में भी नहीं आ सकता, पर उन वक्तों और उन घटनाओं की कीमत बाद में पड़ती है, उस समय जब छाती में एक आंसुओं से भरी, उठती हुई आह तन-मन को निश्चल कर देती है और हम कह उठते है—"काश! वे पल अमर होते।"

पिता जी का हर प्रातः मेरे माथे, मेरे सिर और मेरे कपोलों पर हाथ फेर कर मुझे जगाना, उन घटनाओं में से एक है। कितनी बार अब उषाकाल के पल इसके अभाव में बेस्वाद लगते हैं और चढ़ते सूर्य की लाली फीकी और पीली।

"पिता जी अभी तो सवेरा है" मैं आंखें मलता, अंगड़ाइयाँ लेता हुआ उत्तर दिया करता।

"नहीं बेटा, देख, सूरज कितना चढ़ आया है!" और उस वक्त बातें करते करते कितनी ही बार पिता जी के हाथ रूक जाते। वे सूर्य की ओर एकटक देखते रहते, जैसे सूर्य की लालिमा-युक्त किरणों में वे अपने जीवन की पहली लाल किरणों को ढूंढने की चेष्टा कर रहे हों। उनका चेहरा भी मुरझा जाता और कभी-कभी मेरे उठकर बैठ जाने पर भी वह खोए रहते।

"पिता जी! " मैं पुकारता।

"हूँ" वे कहते, पर आँखे सूर्य के गोले पर ही टिकी रहतीं।

"पिता जी!"

तब कभी वह चौंक कर पलटते, "हां कुमार, उठ बेटा, जल्दी कर न। तुम नीलकंठ को तैयार करो, मैं भी आता हूं", और धीरे धीरे वे लौट जाते।

उस समय मैं पिता जी की इस चैतन्यहीनता का कारण पूछने के लिए बहुत छोटा था।

परन्तु सामान्यतया पिता जी का सुबह का समय चिन्तन और चिन्ताओं से रहित होता था क्योंकि वह समय मुझे घुड़सवारी और शस्त्र-विद्या सिखाने में बीतता था। उस समय वह पूर्णतया उत्साहित रहा करते थे। उस वक्त पिता जी, पिता जी होने के अतिरिक्त मेरे अध्यापक भी होते थे। मेरी भूलों के लिए मुझे सख्त डांट दी जाती थी। यही कारण था कि अपने आठवें वर्ष में ही मैं घोड़े की सवारी करने में निपुण हो चुका था।

तलवार, तीर-कमान और नेज़ा पहले तीन शस्त्र थे जिनकी शिक्षा पर पिता जी ने अधिक ज़ोर दिया।

शिक्षण के समय पिता जी मेरे से अधिक दौड़-कूद करते थे। उनका दम मुझसे भी अधिक फूलता था और कितनी बार शिक्षण समाप्त होते ही वे मुझे अपनी छाती से लगा लेते और कहते "कुमार बेटे, मेरा परिश्रम व्यर्थ तो न जायगा ?"

उस समय मैं इसका क्या उत्तर दे सकता था ?

शेष दिन मेरा पढ़ाई और खेलने कूदने में बीत जाता। राहू था, कुन्दन था और मेरे कुछ अन्य मित्र !

साधारणतया पिता जी मुझ से दूर ही रहा करते थे। उनका कमरा अलग था और वहां ही वह आने जाने वाले को बिठाया करते। हमारा मकान सुन्दर था और साथ लगता हुआ बाग उससे भी अधिक सुन्दर। घर की सजावट कही नहीं जाती थी। कितनी शृंगारिक वस्तुएं प्रत्येक कमरे का शृंगार थी। यहां तक कि मेरा अपना घर ही मुझे अजायब घर लगता था।

कितने ही प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध नगर–निवासी पिता जी से मिलने आया करते थे। एक बार मुझे याद है कि प्रजापति आनन्दपाल हाथी पर चढ़ कर स्वयं हमारे घर आए थे और उनका कुमार मेरे साथ बाग में खेलता रहा था।

* * * *

इस प्रकार दिन बीत रहे थे, बचपन के वे सरल खुशियों भरे दिन–कि मेरे जीवन में मोड़ आया और ज्वार की लहर आई।

पिता जी बीमार हो गए।

एक दिन शाम के वक्त पिता जी, मेरी शस्त्र-शिक्षा के बाद घर लौटे और ऐसे ही अकस्मात, दरवाजे में खड़े हो गए। मैं भी नीलकंठ पर चढ़ कर पीछे आ रहा था। उनको देखकर मैं भी उतर गया, पता नहीं किस लिए; शायद आदर का ख्याल करके, शायद वैसे ही। पर काश ! उस समय मैं नीलकंठ पर से न उतरता।

पिता जी खोए से खड़े थे। मुझे पास आया देख कर कहने लगे "आज के हाथ न भूलना बेटा, ये बहुत जरूरी हैं। तुम्हारी पहली उम्र की विद्या अब समाप्त ही होने वाली है" वे मुसकराए और नीलकंठ को उन्होंने थापी दी।

"पिता जी, जैसे .." शब्द अभी मेरे मुँह में ही थे कि छत पर से दो लड़ते हुए जंगली कबूतर नीलकंठ की पीठ पर आ गिरे। नीलकंठ चौंक उठा। उसकी कमर पिता जी से टकराई और वे गिर पड़े।

"पिता जी" नीलकंठ की लगाम छोड़ कर मैं पिता जी की ओर बढ़ा।

× × + ×

उस शाम मेरी पहली उम्र की विद्या जो समाप्त ही होने वाली थी—समाप्त हो गई। पिता जी फिर मुझे कुछ और न सिखा सके।

# २

कुछ व्यक्तियों का प्रभाव बहुत विशेष एवं अद्वितीय होता है। उनके गिर्द स्मृतियों के झुरमुट का एक ऐसा वायु-मंडल होता है कि जिस से अलग होकर उनका अनुमान तक भी नहीं किया जा सकता। पिता जी का ख्याल करते ही उनका उदास चेहरा और निराशा भरे नयन मुझे साकार नज़र आ जाते हैं। जब भी वह मुझे याद आते हैं, उनकी उदास अचेतनता भी उनके शरीर के किसी अंग की तरह उनके साथ ही नज़र आती है। सदा ऐसे लगता था कि वह कुछ गँवा बैठे हैं।

मुझे उनकी सुबह और शाम की सख्त कसरत भी किसी समूचे दुःख की लहर नज़र आती थी। अन्तर इतना था कि इस वक्त वह इसकी पीड़ा से बेखबर होते थे। शायद यही कारण था कि वह मुझे अपने से दूर रखते थे, कि कहीं मैं उनकी उदासी से प्रभावित न हो जाऊं।

पर जब से वह बीमार हुए, वह सदा यह चाहते थे कि मैं उनके पास बैठूं—उनके साथ छोटी छोटी बातें करूं, उनके सिर को दबाऊं

और उनसे प्यार करूं। और जैसे जैसे पिता जी की हालत खराब होती गई, उनकी मेरी निकटता के लिए चाह भी प्रबल होती गई। अब वह मुझे आंखों से ओझल नहीं होने देते थे।

"बेटा कुमार, काश! मैं तुम्हारी शिक्षा पूरी कर सकता।" एक दिन उन्होंने मुझ से कहा।

"जरूर पूरी करोगे पिता जी," मैंने कहा "हकीम कहता था कि अब आप जल्दी ही ठीक हो जाएंगे।"

वह मुसकराए पर ऐसी वेदना भरी मुसकराहट मैंने फिर नहीं देखी। मुस्कराट के साथ ही उनकी आंखें सजल हो गई।

यह पहली बार थी जब कि मैंने अपने पिता जी की आंखों में आंसू देखे। उस दिन से पिता जी और भी बेसुध रहने लगे और उनकी बेसुधी से मुझे बल मिला! मैं उनसे और अधिक प्यार करने लगा। मैं उन्हें तसल्ली देने लगा, यहाँ तक कि मै उनको समझाने लगा।

"पिता जी, आप इस तरह न कहा करें" मैं कहता।

"कुमार बेटा, मुझे खुशी है कि तुम अपने आपको सम्भाल सकने के योग्य हो गए हो। पर क्या हो जाता अगर दो साल, सिर्फ दो साल और मै तुम्हारे साथ रह सकता।"

"पिता जी" में उनका ध्यान किसी दूसरी बात की ओर लगाने के लिए कहता—"आज शाम सिंह आया था और कहता था कि वह अमरावती जा रहा है।"

मुझे इतना सयाना जान कर ही शायद वह मुसकरा देते।

यदि कोई मुझे, आठ वर्ष के बालक को, पिता जी के सिरहाने बैठा देखता और उनसे बातें करते हुए सुनता, तो अवश्य हैरान होता। मेरे में एक अनोखी सूझ आ गई दिखाई देती थी। मुझे लगता था कि मैं अपनी उम्र से कितना बड़ा हो चुका। हूं

जब वह डयोढ़ी में धक्का खा कर गिरे थे, तो उनका सिर बड़े दरवाजे की चौखट से जा टकराया था। सिर में भारी ज़ख्म हुआ था। हकीम की हिदायत के अनुसार वह जितना भी आराम करने, उनके लिए थोड़ा था। किन्तु पूर्ण आराम उनके भाग्य में न था। अपने ख्यालों का ताना-बाना बुनते हुए वह कभी आराम नहीं करते थे। उनके चेहरे का कुम्हलायापन इस बात का सूचक था। हकीमों के जोर देने पर भी वह आराम न कर सके।

अब मुझे ख्याल आता है कि वह आराम कर भी कैसे सकते थे? जिस मनुष्य के दिमाग में यादों के इतने झुरमुट हों कि हर तिनके के हेर फेर से, दरवाज़ा खोलने से भी कुछ खोया, हारा गुम हुआ प्रतीत हो, वह आराम कर भी कैसे सकता है?

पिता जी के घाव दो बार मिल कर फिर खुल गए और उनकी कमजोरी बढ़ती गई। एक दिन उन्होंने हकीमों को कहा—"दिन थे कि ऐसे जख्म बिना दवा के भर जाते थे और आज——" और वह चुप कर गए।

पहले चार-पांच दिन तो किसी मित्र, स्नेही को पिता जी से मिलने की आज्ञा न मिली। वे आ आकर लौट जाते रहे और फिर भी जब वह आते तो हकीम के आदेशानुसार बहुत देर न ठहरने पाते।

उन्हीं दिनों मेरे चाचा जी जो अमरावती रहा करते थे हमारे पास आए। उनके साथ उनकी पत्नी शान्ति भी थी। पहले दिन ही से न वे मुझे अच्छे लगे और न मैं उनको।

राणा हरदयाल स्वभाव में अपने भाई से उलट थे। कद छोटा, शरीर पतला, आंखें और माथा छोटा, पर ठूड्डी लम्बी। वह कम बोलने वाले और सड़ियल स्वभाव के थे और उनकी पत्नी उनसे भी चार रत्ती ज्यादा।

एक दिन मैं राणा शाम सिंह के पुत्र राम सिंह के साथ बाहर से सैर करके लौटा। नीलकंठ को बांध कर नियमानुसार में बाग में से पिता जी के लिए फूल तोड़ने चला गया। मैंने देखा कि हरदयाल और उसकी पत्नी वहां टहल रहे हैं। मैं उनकी नजर बचा कर मोतिया के पौधों की ओर चल दिया। कुछ देर बाद वे भी उन्हीं पौधों के निकट आकर बैठ गए। मेरे जी में आया कि आज मैं फूल नहीं तोड़ूंगा पर जिस समय मैं पलटने लगा तो मैंने अपने चाचा के मुंह से अपना नाम सुना। स्वभावतः ही मैं उन पौधों की ओट में होकर उनके तनिक निकट होकर सुनने लगा।

"मेरे ख्याल में तो कुमार का और कोई नहीं" शान्ति कह रही थी।

"मेरा भी यही ख्याल है। पर राहू है। राहू मान सिंह का पुराना सेवक है और बहुत वफादार।"

"है तो, फिर क्या? हम कुमार को अपने साथ ले जाएंगे तो इस तरह वह अपने आप ही राहू से अलग हो जायगा।"

"पर शान्ति, मुझे तो प्रतीत होता है कि अभी मान सिंह का अन्त निकट नहीं।"

"आपको गलत दिखाई देता है। उसकी जैसी हालत आज सुबह थी, उस हालत में तो वह चार-पांच दिन ही काटेगा।"

जैसे भी हो——यह——"

मेरे में और सुनने की शक्ति न रही। पहले ही मैं पिता जी की बीमारी के कारण बेचैन था। ऐसी बातें सुन कर मैं और दुःखी हुआ। मुझे मोतिये के पौधे के हर पत्ते के पीछे छिपी किसी अदृश्य बला का आभास होने लगा। शाम का झुटपुटा अन्धेरी रात के समान प्रतीत हुआ। मैं जल्दी जल्दी चलने लगा। मैं दौड़ा और फिर

धीमे हो चला । पिता जी की बैठक का दरवाजा बन्द था । मैंने उसे खटखटाया ।

रहस्य भरी उँगली अपने ओठों पर रखे हकीम और राहू अन्दर से निकले ।

आज मानसिंह जी की तबीयत ठीक नहीं । उनके पास जाना नहीं चाहिए ।"

मैंने हठ न किया । गुस्सा भी न किया । पर अपने कमरे में जाकर मैं रोया, बहुत रोया ।

+ + +

राहू ने आकर मुझ रोते हुए को उठाया । मुझे उनके स्पर्श से बहुत सान्त्वना मिली ।

कितनी देर हो गई थी मुझे किसी ने प्यार नहीं किया था । यही नहीं उलटा मुझे पिता जी से प्यार करना पड़ता था और हरदयाल की बातों ने मेरे दिल में राहू के लिए बहुत आदर पैदा कर दिया था । इससे पहले मैंने राहू को केवल एक सेवक की तरह ही समझता था, एक साथी की भाँति नहीं । पर उस शाम उसने मेरे दिल में बहुत स्थान प्राप्त कर लिया । मैंने उसे हरदयाल और शान्ति के बीच हुई बातचीत बतलाई । सुनते सुनते उसकी आँखें भर आईं ।

"छोटे कुमार" उसने कहा, "मुझे पहले ही पता था और फिर यह भी कि मैं कर कुछ भी नहीं सकूंगा ।" उसने ठंडी आह भरी ।

इतने में शान्ति आ गई । राहू को इस तरह पलंग पर बैठे और मुझे उसकी गोद में लेटे हुए देखकर स्तंभित सी रह गई । "हैं" उसके मुँह से निकला । फिर वह नाक चढ़ा, भवें तान और यह

कहती वापिस लौट गई। "कुमार, तुझे तेरे पिता जी बुलाते हैं।"

❀ ❀ ❀

[illegible] के [illegible] बातचीत का [illegible] भास भी पिता जी को न [illegible]। [illegible] समझ [illegible] बचपन की किसी आन्तरिक सूझ ने मुझे बताया कि [illegible] दुःखी [illegible] अब मैं सोचता हूं कि अवश्य राहू को [illegible] पिता जी का [illegible] भासित हुआ होगा। पर मेरे लि[illegible] समझना असम्भव था।

मेरे अचेतन मन में भले ही खटका लगा रहता था। मुझे प्रतीत होता था जैसे कुछ होने वाला है। पिता जी के साथ जरूर कोई घटना होगी। अन्यथा राहू के आंसू क्यों बार बार बरसते? क्यों सारे घर पर एक उदासी सी छाई रहती?

जिस शाम शान्ति ने मुझे और राहू को पलंग पर इकट्ठे बैठा देखा था, उससे अगली सुबह हरदयाल ने मुझे पिता जी के पहले शयन-कक्ष में बुलाया और इस तरह कहा—

कुमार तुम अभी छोटे हो। तुम अभी अपना भला बुरा सही तरह सोच नहीं सकते। नौकरों से इस तरह खुले जाना अच्छा नहीं। तेरे पिता तुझे इस समय कुछ कहने में असमर्थ हैं। अब मैं ही उनकी जगह हूं।"

जिस समय चाचा हरदयाल ये शब्द कह रहा था, वह स्वयं भी बेचैन नजर आता था। वह मेरी ओर से पल पल नजरें हटा लेता जैसे मेरी दृष्टि से छिपना चाहता हो। जो कुछ भी आदर मेरे हृदय में हरदयाल के लिए शेष था, इस भेंट में वह भी समाप्त हो गया। अब मेरे मन में आदर और इज्जत की जगह एक और भाव [illegible] जाता था, जिसे मैंने पीछे जाकर घृणा के रूप में पहचाना।

इधर धीरे-धीरे शान्ति ने सारे घर पर अधिकार कर लिया। सारा दिन वह घर की तलाशी लेती रहती। इससे पहले मुझे कभी अपने घर की वस्तुओं को देखने परखने का ख्याल नहीं आया था। वे मेरे अति निकट थी। अब वे सब मुझे शांति के अधिक निकट लगतीं और इसीलिए मेरी उत्सुकता बढ़ गई। पर अब मुझे हर उस कमरे से डर लगने लगा जिसमें मैं किसी भी समय शांति को देख लेता।

इस तरह मेरा घर मुझ से पराया होता गया। केवल मेरा अपना कमरा ही ऐसा था जिसमे शान्ति न आई। अब मेरा दुःख बटाने वाला केवल राहू था या सरदार शाम सिंह का लड़का राम सिंह राम सिंह मेरा हमउम्र था। अब हम गहरे दोस्त थे जैसे आठ साल के बच्चें हो सकते हैं।

पिता जी का स्वास्थ्य बिगड़ता गया। अब उन्हें उठ कर बैठना भी वर्जित था। पिता जी का दुःख मेरी कोमल अनुभव शक्ति के लिए असह्य बनता जा रहा था। उस वक्त मैं यह नहीं जानता था कि संसार में अनेक रोगी इससे भी भयानक रोगों से ग्रसित सिसक रहे हैं।

अब मेरा पिता जी के सिरहाने बैठना और भी बढ़ गया था। उनकी इच्छा भी अधिक विह्वल हो गई। जब भी वह मुझे जाने की आज्ञा देते, उनके चेहरे पर दुःख के चिह्न प्रकट हो जाते और वह विनय सी कहते—"कुमार बेटा, जल्दी आओगे न लौट कर ?"

एक सुबह मैं उनके पास बैठा था। वे कहने लगे, "कुमार, वे तलवार और नेजें के आखिरी हाथ तो नहीं भूल गया ?"

"कभी हो सकता है पिता जी, मैं पहले कभी कुछ भूला हूं ?"

"कुमार, मैं फिर फिर यही सोचता हूं कि यदि मैं दो साल, सिर्फ दो साल और जी सकता ...।

वह मुझे इस तरह सम्बोधन करते जैसे मैं जवान होऊं। "पर अच्छा, जितना कुछ भी मैं कर सका हूं, वह इतना थोड़ा नहीं कि मैं इस समय असन्तुष्ट होऊं।"

नीलकंठ पिता जी के रोग का कारण था, नीलकंठ जिसे हम इतना प्यार करते थे। पर नीलकंठ का शोक भी किसी से कम नहीं था। उसके आंसू मुझ से छिपे न रह सके। मुझे याद आता है कि किस तरह उसने पिता जी से मिले बगैर दाना पट्ठा खाने से इन्कार कर दिया और पिता जी का स्नेह और मोह भी बड़ा प्रबल था। हकीम के कहे के प्रतिकूल एक दिन वह स्वयं दरवाज़े तक उसे मिलने के लिए आए। उन्होंने स्वयं एक दिन मुझे कहा, 'पुत्र, नीलकंठ से गिला न करना। उसका कोई दोष नहीं। भाग्य की अमिट रेखाओं को कोई मिटा नहीं सकता। कुमार, दुनिया में नीलकंठ सा साथी मुझे और कोई नहीं मिलेगा।"

कितने दर्द-भरे थे वे पिता जी के अक्षर! नीलकंठ की याद से लिपटे हुए उनके इन वचनों की याद आज तक भी मेरे आंसुओं के साथ खेल सकती है।

# ३

पिता जी की सेहत उस दिन आगे से कुछ अच्छी थी। रोज की तरह शाम को मैं बाग़ में से खिले ताज़े फूल तोड़ कर लाया। उनके कमरे का दरवाज़ा सटा हुआ था पर फिर भी न जाने कैसे, मेरे दरवाज़े पर पहुंचते ही उन्होंने अपने दर्शक को पहचान लिया।

"कुमार सिंह, आ पुत्र", एक तेज़ आवाज़ अन्दर से आई।

निःसन्देह वह मेरी ही प्रतीक्षा कर रहे थे! मैं अन्दर गया। उन्होंने मेरे हाथों में से फूल ले लिए। उन्होंने मुझे प्यार से सहलाया और अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा, "आज मैं अच्छा हूं, कुमार। आज के फूल भी तो रोज से अधिक खिले हुए है।" और वह मुसकराए!

किन्तु अचानक उनका चेहरा गम्भीर हो उठा और वह बोले– "कुमार, आ मेरे पास बैठ!" मैं बैठ गया और पिता जी ने मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा :—

"कुमार, आज मैं तुम्हें कुछ बताना चाहता हूं।" मेरा जी सहम गया। पिता जी बहुत ही गम्भीर थे।

"मुझे आशा है कि ये शब्द तुम्हें तुम्हारे भविष्य में कुछ सहारा देंगे और शायद मेरी आतमा को भी कुछ शान्ति मिले ।"

कुछ रुक कर वह कहते गए, "कुमार, मैं विजय पूर की सेना का सेनापति था । महाराज जयसिंह का मेरे साथ स्नेह था । मैंने उनके लिये बहुत कुछ किया था । वह मेरे ऋणी भी थे पर मेरे भाग्य ने मेरा साथ ना दिका । किस तरह और क्यों मुझे मेरी सैनिक स्थिति से अलग किया गया, । मैं तुझे नही बताउँगा, न बताने की जरूरत है ।"

"दरबार गया , गया । सेनापति की जगह गई, गई । राजधानी छूटी, छूटी । मुझे गिला नहीं, पर क्यों किसी ने तुझे, मेरी अन्तिम पुँजी को भी , मेरी अंतड़ियों से अलग करना चाहा, मैं नहीं कह सकता । तेरी माता चन्द्रिका का अन्त हुआ, मैंने वह दुःख सहा । तेरी बहिन के वियोग का दुःख सहा, पर कुमार, मैं तुझे छोड़ कर कहीं लड़ाई-झगड़ा नहीं करना चाहता था । मैं तुझे प्यार करता था । तुम्हारी परछाई को भी किसी को सौंपने से घबराता था और मैं तुझे पालता रहा हूं पालता रहा हूं ।" पिता जी के हाथ फिर जरा कठोर हो गए ।

"अपने तन और मन की सारी शक्ति से मैंने तेरे लिए जीवन में सुख ढूंढा है । मैंने तुम्हारे ऊपर अपनी इज्जत, मान, धन सब कुछ न्योछावर किया है । राणा शाम सिंह की मिन्नतें असफल रही हैं । जैसलमेर के राजा स्वयं मेरे पास चल कर आए पर मैंने उनकी बात न मानी । मैं दिल में कहता था, कि नहीं, कुमार को मेरा सम्पूर्ण प्यार मिलेगा । और कुमार, वह सब कुछ मैंने तुम्हें दिया है !"

पिता जी ने मेरे सिर को अपनी छाती पर रख लिया ।

"जो कुछ मेरे से हो सका...। अब मेरे आखिरी दिन हैं, मैं जानता हूं ।"

पिता जी चुप कर गए। अपने दाएं हाथ की उंगलियों से मेरे बालों को संवार रहे थे। "पर तू हौसला रख। तुम राजपूत कुल के दीपक हो। तुम मानसिंह के सुपुत्र हो और सरदार निर्भय सिंह की अंश। तुझे भयभीत न करें, तुझे कठिनाइयाँ पीड़ित न करें, दुख दुःखी न करें, यही सच्चे और आन रखने वाले राजपूत की जीवनी है। सदा तय्यार और कमर कसे तथा चढ़ती कलाओं में रहना। अपने इरादों और विश्वासों को सदा ऊंचा रखना!"

पिता जी रुक गए। उनके चेहरे पर तेज समाता नहीं था। फिर एकाएक उनकी आंखें भर आई। वे रो रहे थे!

और दूसरे ही दिन पिता जी, मेरे खिलौने जैसे हाथ में भारी तलवार पकड़ा, मेरे नन्हें और कोमल मन को इरादों से भर कर, मुझ एकाकी को, रात की स्याही में छोड़ गए।

पिता जी की मृत्यु मेरे होश में पहली मौत थी। पहली बार जब मुझे सचमुच विश्वास हुआ कि जीवन में ऐसा समय भी आता है जब एक बार का गया मनुष्य फिर कभी नजर नहीं आता। बदहवास मैं अपने आस पास देखता पर कहीं भी ठौर मिलता न प्रतीत होता। किसी डाल पर तसल्ली का सन्देसा न था। किसी वृक्ष की शीतल छाया निमन्त्रण नहीं देती थी। घास का कोई तिनका ऐसा न था जो मेरा भार सम्भाल लेता। हरदयाल और शाँति के लिए मेरा हृदय घृणा से भर गया था। घर, बाग, यहां तक कि मुझे नीलकंठ से भी भय लगता था। लक्ष्मी और कुन्दन के साथ हंसना-खेलना मुझे बड़ा अर्थहीन प्रतीत होने लगा। ऐसे लगता था जैसे पिता जी की मौत चारों ओर की प्रशंसा निचोड़ कर ले गई हो।

बेबस हुआ मैं बहुत देर खड़ा न रह सका, सह न सका। मैं राहू की झोली में गिर गया। राहू ने मुझे हौसला दिया, मुझे समझाया और उदाहरणा दे देकर बताया कि मौत एक न रुकने वाली और

जरूरी घटना है। इससे निडर होकर रहना ही ठीक है। राहू ने मुझे यकीन दिलाया कि संयुक्ता मिलेगी। उसने भविष्य के चित्र खींचे और मुझे एक बड़े नाटक का मुख्य नायक बनाया। मैंने अपनी महत्ता अनुभव की और दिल को कुछ प्रतीति हुई।

❁ ❁ ❁

पिता जी की मृत्यु को अभी पाँच–छः दिन ही हुए थे कि हरदयाल ने मुझे अपने पास बुलाया, "कुमार सिंह हमने परसों अमरावती की सलाह की है।"

"पर मैं———"

"कुमार सिंह" हरदयाल ने कृत्रिम स्नेह के साथ मुझसे कहा—

"मैंने तुम्हें पहले भी समझाया था। तुम अभी छोटे हो लेकिन अपने आपको बहुत स्याना समझते हो। अब तुम यहां नहीं रह सकते। तुम्हारी देखभाल करने वाला अब यहाँ कोई नहीं, तुझे हमारे साथ जाना पड़ेगा।"

"पर चाचा जी," मैंने उसे पहली बार चाचा कह कर बुलाया था।

"पर वर कुछ नहीं"। हरदयाल ने मेरे 'चाचा' कहने का कुछ भी लिहाज़ न किया।

"तुझे जाना पड़ेगा। बुरी संगति में पड़ कर तूने बुरा ही बनना है। राहू जैसे आदमी से तू सट–सट कर बैठता है।"

मुझे इतना क्रोध हुआ कि उत्तर में कोई अक्षर मेरे मुंह से न निकला।

"काश!" मैंने उस समय सोचा, "मैं बड़ा होता ताकि हरदयाल से दो हाथ कर सकता।" हरदयाल मुझे चुप देख कर कहता गया, "स्वर्गीय मानसिंह मेरा भाई था। वह मुझे तुम्हारी और अपनी जायदाद पर पूर्ण अधिकार दे गया है।"

मैं अभी भी उसकी तरफ देख रहा था।" आंखें निकाल कर मुझे घूर कर कह रहा है, कुमार सिंह ? अच्छा हो अगर तुम बड़ों की इज्जत करना सीख लो। चलो, जाकर तैयारी करो।"

मैं कुछ पल और भी वहां खड़ा वैसे ही उसे देखता रहा। मेरा गुस्सा उछल रहा था। मैं खौलता रहा और अन्त में मेरा गला भर आया। मेरी नसें खिच गईं, मेरी आंखें लाल हो गईं, और मैंने कहा—"मैं नहीं जाऊंगा।"

और शीघ्रता से मैं कमरे से बाहर निकल गया। पिता जी की अनुपस्थिति में मुझ पर हुआ यह पहला वार था।

* * *

राहू इत्यादि को दूसरे दिन जाने की आज्ञा पहले ही मिल चुकी थी। राहू कहता था कि वह अपने स्वामी सरदार मान सिंह के पुत्र से कभी नहीं बिछड़ेगा, पर लक्ष्मी ने सारा सामान बांध लिया था। कुन्दन बेचारा हैरान था। माता और पिता से निराश हुआ वह मेरे पास आया। उसने समझा कि मैं जरूर उसे बता दूंगा कि यह क्या हो रहा है और क्यों कोई उसके साथ बात नहीं करता। पर जब मैं भी उसे पहले जैसी तीव्रता से न मिला तो वह रोने लग पड़ा।

लक्ष्मी ने अपनी भरी हुई आंखों को पोंछ कर कहा; "राणा कुमार जी, सरदार मानसिंह जी के होते हुए किसी ने हमारी ओर उंगली नहीं उठाई थी, पर राणा हरदयाल सिंह के हाथों हुई बेइज्जती सही नहीं जा सकती। यदि राहू आपके साथ जाना चाहे तो ठीक, पर मैं तो नहीं जा सकूंगी।"

मैं चुप था।

"हम भी राजपूत हैं" वह अपना टेढ़ा मुंह सीधा करती हुई बोली।

राहू ने भी अपनी पगड़ी उतारी और पूछने लगा —

"कुमार, आप कब जा रहे हैं ?"

एक राहू को मैंने अपना आसरा समझा था और अब वह भी मुझे भेज रहा था। मैं कुछ न बोला। कुछ बोल ही न सका। मुझे चुप देख कर उसने कहा, "राणा हरदयाल जी ने कहा था कि आप परसों जा रहे हैं ?"

मैं फिर भी चुप था।

"यदि स० मान सिंह जीवित होते —" कहते कहते लक्ष्मी हमारे पास से उठ कर चली गई।

अगले दिन राहू वगैरह चलने के लिए तैयार थे। उस समय मुझे एक बड़ा तीक्ष्ण अनुभव हुआ कि राहू आखिर नौकर था और चाहते हुए भी हरदयाल की अवज्ञा नहीं कर सकता था। उसकी आंखों में बेबसी थी। उसकी आंखें मानों कह रही थी, 'कुमार जी, मैं जानता हूं कि मेरा बिछुड़ना आपको दुःखी कर रहा है। आप मेरा अन्दर टटोल कर देखें। चाहता था, सारा जीवन आपके लेखे लगाता पर भाग्य प्रबल है। और अब आपके बिना मेरे लिए इस दुनिया में क्या है ?

बाहर बड़े दरवाज़े के आगे राहू का सामान एक बड़े रथ में भरा पड़ा था। रथवान चलने की तैयारी में था। हरदयाल और शान्ति की पक्की आज्ञा थी कि राहू आदि को छोड़ने के लिए मैं बड़े दरवाज़े से बाहर न जाऊं। पर मुझे लगता था कि उनकी आज्ञा का उल्लंघन कभी न कभी करना ही पड़ेगा, तो इस समय से ही क्यों न किया जाए ?

बिछुड़ते समय लक्ष्मी की भैंगी आंखें, जिनमें मैं आज तक केवल भयभीत करने वाली शून्यता ही देखता था, आज विह्वलता के नीर में तिर रही थीं। मेरे नन्हें हाथों को सहलाती हुई वह बोली "हमारी

भूलों के लिए हमें क्षमा करना, कुमार जी।"

पर मैंने उसका हाथ पकड़े रखा। फिर उसने मुझे छाती से लगाया और मेरे सिर पर प्यार दिया। निरन्तर आंसू गिराता राहू बोला—"हमें भूल न जाना कुमार।"

*　　　*　　　*

जब अगली पौ फूटी, मैं अपने चाचा और चाची के साथ जैसलमेर से बिदा हो रहा था। सिसकती नजर से मैं अपने घर को देख रहा था। अब हम अपने बाग में से लांघ रहे थे। फिर राणा शाम सिंह का मकान आया, पाठशाला आई, राणा इन्द्र की हवेली निकल गई। चक्कियाँ आई, भट्ठे आए और जैसलमेर पीछे रह गया और उसके साथ ही पीछे रह गए—पिता जी, राहू और कितना कुछ।

नीलकंठ मेरी छोटी सी रथ के पीछे पीछे घोर उदासी में एक उदास गति से चलता आ रहा था।

हम अमरावती पहुंच गए।

मैं थक गया था। कुछ सप्ताहों की हलचल में मुझे लगता था कि मैं बहुत कुछ करता रहा हूं। मेरे अंग दर्द करते प्रतीत होते थे। अमरावती में आकर मुझे आराम की अधिक आवश्यकता अनुभव हुई।

जो कुछ पिछले दिनों में घटित हुआ था, वह मेरे लिए अत्यन्त अचिन्तनीय था। मैं पुनः पुनः मन ही मन में कहता, "क्या था और क्या हो गया पल भर में? कहां हैं—जैसलमेर, पिता जी, राहू, राम सिंह—? वह घर—वह बाग, वह शस्त्र-विद्या——?"

अमरावती नगरी अमरावती रियासत की राजधानी थी। यहाँ मेरा चाचा हरदयाल दस वर्ष से रहता था। पिता जी की देश देशान्तर में

फैली प्रशंसा और उनकी उच्च मित्रताओं के कारण ही हरदयाल को अमरावती–दरबार में जगह मिली थी।

अमरावती बड़ी नगरी थी और अति सुन्दर तथा नवीन ढंग की बनी हुई। सड़कें और गलियां खुली थी। महाराजा और दरबारियों के सुन्दर घोड़े, रंगीन बग्घियों और सुन्दर रथों में भी अपनी आकर्षण थी। इसके अतिरिक्त अमरावती के युवकों का सजा हुआ पहरावा नगरी की शोभा में और भी वृद्धि करता था। याद आते हैं वे दिन। अमीर और गरीब में कितना कम अन्तर था। हर कोई खुश दिखाई देता था। जैसे जैसे दिन बीतते जाते हैं, अमीरों, गरीबों में अन्तर बढ़ता जाता है। वर्ग दृढ़ होते जाते हैं। विश्वास खत्म होते जाते हैं।

पर आह ! जैसे अमरावती की रौनक ने मुझे रस दिया, वैसे ही अगर कभी अमरावती में मेरा अस्थाई घर भी मुझे तृण मात्र भी सुख दे सकता।

हरदयाल और शान्ति से, जिन्हें चाचा और चाची कहने में मैंने सदा संकोच किया है, मुझे ज़रा भी प्यार न मिला। पिता जी की प्यार भरी गोद छिन जाने के बाद तो मुझे किसी अधिक प्यार दे सकने वाली गोद की आवश्यकता थी, पर मैं तरसता ही रहा–तड़पता ही रहा।

अब की तरह, अपने बचपन में भी मैं उदार हृदय था। मैं अपने कुसूरवारों को भी सदा क्षमा करता रहा हूं। में कृतघ्नों पर भी अपने अहसानों की छाप लगाने से नहीं चूका हूं। में गिले, नाराज़गियां, गुस्से भूलता आया हूं, पर मैं हरदयाल और शान्ति का आदर न तब कर सका और न अब कर सकता हूं।

जी करता है कि मैं उनकी ज्यादतियों को भूल जाऊं। हरदयाल अब जीवित में नहीं। शान्ति अब अति वृद्ध है। पर फिर भी मैं मजबूर हूं।

उन्होंने मेरे साथ बेदर्द बर्ताव किया है। मेरे जी को तरसाया है। मेरी आशाओं को कुचला है। मेरी इच्छाओं को केवल अपूर्व रखने के ही साधन नहीं सोचे-नोकीले और चुभने वाले शब्दों से उन्हें छलनी भी कर दिया है।

दुःख भरे वातावरण में मेरा एक मात्र सुखदायक साथी, जैसलमेर की एक मात्र जीवित निशानी थी नीलकंठ। किन्तु यह साथ भी अपने आप में एक दुःख भी लम्बी वार्ता बन गया।

अमरावती आकर भी नीलकंठ रोज-रोज उदास रहा। एक बार भी वह खुल कर न हंसा। चाचा हरदयाल ने घर पहुंचते ही अपना घोड़ा बेच दिया और नीलकंठ को अपनी सवार के लिए रख लिया। नीलकंठ को—जो हमारे घर का लड़का था और जिस पर सवारी का भार डालने से पिता जी भी सदा संकोच करते थे।

पहली बार नीलकंठ ने यह बेगार ढोने से इन्कार कर दिया। उसने अपना क्रोध प्रकट किया। वह हिनहिनाया, वह कूदा और आह !——तब हरदयाल ने अपना बेत ऊपर उठाया। मुझ से सहा न गया। दौड़ कर मैं दोनों के बीच जा खड़ा हुआ।

"चाचा जी———"और मैंने नीलकंठ की लगाम पकड़ली।

"क्या है ?" हरदयाल की आंखें लाल हो रही थी।

"नीलकंठ को नहीं मार सकते आप।"

"नीलकंठ को नहीं मार सकता?——क्यों? और उसने मुझे एक ओर करके नीलकंठ को एक बेत खींच कर मारा। नीलकंठ दुड़का और हट कर मेरे पास आ खड़ा हुआ।

"चाचा जी——— मैंने ऊँची आवाज में कहा जैसे कि किसी को डांट दी जाती है।

"चुप, कुमार सिंह, अभी से ही तू ———"और उसने मुझ पर चांटा लगा दिया।

मैं सहम गया। यह पहला अवसर था कि किसी ने मुझे चांटा रसीद किया था। लगाम मेरे हाथ से छीन ली गई। नीलकंठ इस बार भी हिला पर उछला नहीं।

शायद उस बेज़बान जीवन ने भी मेरी बेबसी जान ली थी।

उस दिन मैं अपने कमरे की खिड़की में बैठा कितनी देर रोता रहा और नीलकंठ की प्रतीक्षा करता रहा। हरदयाल तीन घंटे बाद लौटा तो सेवक नीलकंठ को अस्तबल में ले गया। नीलकंठ की गर्दन को अपनी छोटी से आलिंगन में ले कर मैं बड़ा रोया। नीलकंठ की गीली आँखें भी अभी तक नहीं भूली।

पीछे किसी के होने का आभास हुआ। मैंने लौट कर देखा। सेवक दया चन्द आंसू भरी आंखों से हमें देखता हुआ कह रहा था—

"छोटे कुमार, यह घोड़ा आपसे बहुत प्यार करता है।

और फिर जो पांच साल मैंने अमरावती में बिताए, वे मेरे और नीलकंठ के ऐसे दुःखित मिलापों से भरपूर हैं। निःसन्देह, आपस में हमारा स्नेह अवश्य बढ़ता गया। दुःखी हृदयों में प्यार का भाव एवं समानानुभूति कितनी बढ़ जाती है पर जैसलमेर वाले वे खुशियां लदे सुन्दर दिन कभी साकार न हो सके। जब कभी भी नीलकंठ बाहर से लौटा करता तो उसका चेहरा उदास होता था और उसकी आन निर्बल। कभी-कभी नीलकंठ मेरे सामने चढ़ती कलाओं में आ जाता और कभी आगे से भी उदास हो जाता। हमारे में परस्पर एक पहचान और समझौता उत्पन्न हो गया था। कभी-कभी वह मुझे कहता प्रतीत होता "छोटे कुमार, आप मेरे लिए इतना उदास न हुआ करें।"

एक मूक उभयपक्षीय आशा पर हम दोनों जी रहे थे कि कभी दिन ज़रूर बदलेंगे।

और जब मैंने यह लिखा था कि मैं हरदयाल को क्षमा करने में असमर्थ हूं तो मेरी छाती में नीलकंठ की पीड़ा थी।

नहीं—नहीं हरदयाल को मैं कभी भी क्षमा नहीं कर सकता। मेरी आत्मा कभी भी नीलकंठ के साथ एकमेक होकर उसके दुख से कलपती है।

इन वर्षों की बाबत अधिक लिखने में मैं संकोच करूंगा। अपने जीवन के दुःखान्त कांडों में से जितनी जल्दी निकलता जाऊं, अच्छा भले ही मन और शरीर में उठती टीसें रोम रोम को खींच रही हैं।

मैं सोचता हूं कि हरदयाल और शान्ति क्यों इतने बुरे थे? क्यों कुछ लोग इतने बुरे होते हैं? कि उन्हें बुराई में ही आनन्द मिलता है। अवश्य उन पर मुझे प्रभु का कोप पड़ा लगता है।

हरदयाल और शान्ति दो ही थे। पीछे चाहे उनके आध दर्जन बच्चे हो गए, पर उस समय तो उन्हें किसी लाड़ले की आशा भी नहीं थी। उनके पास खाने, पीने, ओढ़ने के लिए बहुत कुछ था। हमारे घर का सारा सामान उन्होंने समेट लिया था, पर वे मुझे चार अक्षर प्यार के भी न दे सके! उन दोनों में से किसी एक ने भी पांच सालों में मेरे सिर ऊपर प्यार न दिया। किसी ने अच्छी तरह मेरे पास बैठ कर न पूछा! "बेटा तुझे कोई तकलीफ तो नहीं।"

पांच साल मैं यह झिड़कियां सहता आया। पाँच साल जो भी प्याला मेरे होठों से छुआया गया, मैं पी गया। जो कुछ मेरे आगे आया, उस पर मैंने नाक न चढ़ाई। अन्त में पांच सालों में तिनका तिनका जुड़ता यह बड़ा ढेर बन गया और मेरी छाती यह भार न सम्भाल सकी।

# ४

हरदयाल और समूचे वातावरण के नाम सारी शिकायतें, सारे आक्षेप भूल जाते हैं, जब मुझे उस अद्वितीय मित्रता की याद आती है जो वहां मेरी झोली में पड़ी।

एक तो अमरावती नगर की सुन्दरता से मुझे थोड़ी सी खुशी मिली। फिर वहां के निवासियों के मोह के अतिरिक्त मुझे मिला चितरंजन।

उन पांच सालों में चितरंजन ने मुझे इतना कुछ दिया कि पिछले सत्ताईस वर्षों में भी मैं उसका कर्ज उतार नहीं सका ! पर मुझे आशा है कि चित्तरंजन के दिल में किसी बदले की भावना न तब थी, न अब है। मैं खुश हूं, कि हमारी एक दूसरे के साथ की खुशी एक जैसी थी। यही मित्रता का अद्वितीय गुण है। दोनों ओर से लिया दिया जाता है तो घटा-बढ़ी सदा सम रहती है।

चितरंजन सरदार बीर सिंह का पुत्र था। बीर सिंह अमरावती-दरबार के नामी दरबारी थे और उनकी शोभा, उनकी विद्वता के

कारण थी । इसीलिए शायद चितरंजन में भी दिमागी विद्या के अभ्यास का अधिक शौक था और इस बात पर हमारी परस्पर कई बार चर्चा भी होती ।

"कुमार सिंह, इन भरी हुई बाजू की पच्छियों और तनी हुई छाती का क्या लाभ, यदि हमने दुनियां, परमात्मा, और मनुष्य के मन को न समझ सके ?"

"और इन चीजों पर मगज मारने का क्या लाभ, यदि अपने सुखी और नीरोग जीवन न बिता सके ?" मैं कहता ।

"और तुम शायद शारीरिक शक्ति को न जाने ही छोड़ देते हो, इसके बल का प्रमाण मैं तुम्हें अभी दे सकता हूं ।"

"शायद तुम मस्तिष्क की शक्ति का अनुमान नहीं लगा सकते । यह बड़ी बलवान होती है ।"

और इस तरह हंसते हंसते मैं कितनी बार उसे गिरा कर उसके ऊपर बैठ जाता ।

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते कि पूर्ण मनुष्य बनने के लिए इन दोनों शक्तियों की एक जैसी जरूरत है ।

हमारे बीच हुई चर्चाओं का यह सीधा-सादा रूप हैं । हम इसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ सोचा–विचारा करते थे । पर उसमें से बहुत कुछ मुझे भूल चुका है । थोड़ा सा जो याद है उसमें से भी कुछ बताने में शर्म आती है । बहुत भावहीन होती थीं हमारी बहुत सी बातें ।

पर हां, इतना अवश्य है कि मेरे साथ के बिना न तो चितरंजन अच्छा सवार और योद्धा बन सकता, और न ही मैं चितरंजन की मित्रता के बिना दर्शन और साहित्य से कोई सम्बन्ध स्थापित कर सकता और इसीलिए शायद चितरंजन के उस बचपन के साथ के बिना यह पुस्तक भी लिखी न जाती ।

चितरंजन मेरा साथी था। उसका और मेरा मिलाप अश्वपथ पर हुआ। एक सन्ध्या मैं नीलकंठ पर सैर कर रहा था कि वह भी अपने अजित के ऊपर चढ़ा हुआ मुझे मिला। हमने एक दूसरे को आमने सामने से आते देखा। दिल में कुछ २ हुआ। मेरी आंखें तो पहले ही किसी की खोज में थीं, जो मेरे मुश्किल दिनों को कुछ हल्का कर सके, किन्तु उस आते सवार के चेहरे पर भी मुझे किसी अभाव का अनुभव हुआ।

वृक्ष से पत्ते तोड़ने के बहाने मैंने नीलकंठ को रोक लिया पर चितरंजन मेरी ओर देखता हुआ चुप करके निकल गया।

मुझे कुछ निराशा भी हुई और नाराजगी भी। एक बार फिर हम वहां ही मिले और तीसरी बार फिर। पर अब उसके साथ कुछ मित्र और साथी होते थे। वह उनके साथ बातों में तल्लीन रहता और मेरी ओर केवल एक भरी हुई नजर ही फेंकता। तीसरी बार भाग्य से अजित मेरे नीलकंठ के पास आकर डर गया और चौंक कर कूदा। बड़ी मुश्किल से चितरंजन सम्हला। उसके एक साथी ने मुझ से कहा "क्यों राणा जी, घोड़ा सम्भाल कर नहीं चलाते?"

दूसरे ने कहा:—

"अगर तुम्हारा घोड़ा सुन्दर है तो क्या तुम अश्व-पथ पर अन्धेर-गर्दी मचाए रखोगे?"

तीसरे ने भी कुछ कहा।

यदि पिता जी जीवित होते और यह अश्व-पथ जैसलमेर का होता तो मैं नाक चढ़ा कर निकल जाता और रोब से कहता—

"मुंह सम्भाल कर बात करो।"

पर अब मैंने केवल चितरंजन के निकट होकर कहा—

"मुझे बहुत अफसोस है।"

उन्होंने कहा, "कोई बात नहीं।"

उससे अगले दिन चितरंजन अकेला ही आया और हम अपने आप बेबस से एक दूसरे के निकट आकर खड़े हो गए।

"आपका नाम क्या है ?" उसने पूछा

"कुमार सिंह" मैंने उत्तर में कहा, और उसकी ओर देखा। और फिर मानव-मन की वह चंचल अभिलाषा जाग पड़ी, जो बच्चे युवक और वृद्ध में एक जैसी ही प्रबल होती है। अन्तर यही है कि युवक वृद्ध इसे अपने अन्दर दबाए रखने की शक्ति पैदा कर लेता है और बच्चा इतना चतुर नहीं होता। हमने एक दूसरे से अनेक प्रश्न पूछे। उसी शाम वह मुझे अपने घर ले गया।

इस भाँति हमने मैत्री का लम्बा रास्ता शुरू किया।

* * *

उसके बाद हम एक दूसरे के निकट आते गए। वह पुराने मित्रों से दूर होता गया और मेरे लिए अन्य मनोरंजन ही कौन से थे ? मैं तो सिवाए एक बार के उसे कभी अपने घर न ले जा सका, पर वह रोज ही मुझे अपने घर घसीट ले जाता। उसकी एक छोटी बहिन थी, एक छोटा भाई। वे दोनों भी मेरे परिचित हो गये। मुझे 'कुमार' कह कर बुलाते। और चितरंजन की बहिन जमना को देखकर—जिसे हम स्नेह से जम्मी पुकारा करते थे—मुझे संयुक्ता याद आ जाती।

चितरंजन को मेरे साथ शास्त्र-विद्या का अभ्यास करने का शौक पड़ गया। उसने अपने पिता से कह कर एक अच्छे योद्धा सवार का प्रबन्ध भी कर लिया पर मैंने उससे या किसी और उस्ताद से कुछ नहीं सीखा, जो हाथ और दाव पिता जी ने मुझे आठ साल की उम्र में सिखाए थे, उन्हें आज तक कोई भी मात नहीं कर सका। उतनी ही विद्या से जो नाम मैंने कमाया है, सन्तुष्ट करने के योग्य है और

जैसा कि पिता जी कहा करते थे, दो साल और जीवित रहते तो पता नहीं उन्होंने मुझे क्या बना देना था !

चितरंजन और मेरी मित्रता में भी यदि हरदयाल और शान्ति का वश चलता तो अवश्य फूट डाल देते । उन्होंने मेरे विषय में सरदार वीर सिंह के आगे बुरे शब्द प्रयोग किए और उन्होंने एक बार चितरंजन को भी झिड़कियां दीं । पर चितरंजन ने मेरा साथ दिया । मेरे साथ हंसा और मेरे कारण रोया । उसने मेरे गुणों और अवगुणों दोनों को प्यार किया ।

# ५

अमरावती में जो पाँच वर्ष मैंने बिताए, वे मेरे जीवन का दुःखान्त कांड थे। जिसने इन वर्षों में मेरी आन और आशा की लौ मध्यम न होने दी, वह था चितरंजन। पर दो घटनाएँ और भी ऐसी थीं जिन्होंने उन दिनों की नीरस एकतानता में आकर्षण पैदा किया। वे घटनाएँ एक बड़े वीराने में घास की दो क्यारियों की तरह दिखाई देती हैं।

उन में से एक राहू का लौटना थी और दूसरी पृथ्वीसेन का।

अमरावती में आकर मुझे राहू की याद न भूली। नीलकंठ के गले में पड़ा हुआ चांदी क "हस्स" चलते वक्त राहू की भेंट था। उन क्षणों में जब मैं और नीलकंठ दिल के दुखड़े रो रहे होते थे, मैं अनेक बार उसे राहू की याद दिलाता था।

एक रेशमी पगड़ी राहू ने मुझे भी उपहार के रूप में दी थी। अपने सिर पर बांधने के लिए उसे मैं बहुत पवित्र और मूल्यवान समझता था। अपने विशेष वस्त्रों वाले ट्रंक में मैंने उसे सम्भाल कर रख छोड़ा था और जब भी राहू के लिए मेरा जी उदास होता, मैं उसक

उपहार को देख लेता और तब उससे मिलने के लिए मेरी आकुलता और भी बढ़ जाती।

आह ! मेरा कितना दिल करता था कि उन उपहारों के बदले मैं राहू को कोई उपहार दे सकता। मुझे शर्म आती थी, पर मैं लाचार था। डेढ़ सौ मील की लम्बी दूरी मैं कैसे जाता ? किसे भेजता ? किस से कहता ?

हरदयाल से एक दिन मैंने कहा, "चाचा जी, जैसलमेर अगर कोई जाता हो तो मुझे बताना।"

"हर रोज जाते ही रहते हैं, क्यों ?"

"एक काम है।"

"क्या काम है ?"

बड़े झिझकते हृदय से मैंने कहा, "राहू को एक चीज भेजनी है।"

हरदयाल पहले तो घबरा गया, फिर तैश में आया, है, उस राहू को। कुमार —ओह। मैं तुझे क्या कहूं ! जैसे हरदयाल को मुझे कोसने के लिए सख्त शब्द न मिल सके हों। वह मुहं में ही कुछ बोलता हुआ बाहर निकल गया।

फिर एक सन्ध्या जब मैं और चितरंजन अश्व-पथ पर सवारी कर रहे थे कि मुझे सामने से राहू आता दिखाई दिया। मैंने अपनी आंखें मली, दृष्टि जमा कर देखा, वह सचमुच ही राहू था।

"वह राहू आ रहा है।

"कौन राहू ?"

"वही जिसे मैं कोई भेंट भेजने की चिन्ता में था।"

इतनी देर में राहू नजदीक आ गया। हां वह राहू था। एकदम मैं सब कुछ भूल गया—अश्वपथ, चित्तरंजन, नीलकंठ। मुझे पता नहीं मैंने किस समय नीलकंठ की लगाम चितरंजन के हाथ में दी, किस वक्त मैं उसकी पीठ पर से उतरा, और किस वक्त राहू ने मुझे

आलिंगन में कस लिया । मुझे उस समय होश आया जिस समय राहू ने ये शब्द कहे, "छोटे कुमार, मुझे भूल तो नहीं गए थे !" और साथ साथ मैंने देखा कि उसका हाथ अपनी पगड़ी की ओर बढ़ा, पर अब वह आधी राह में ही रुक गया और उसने अपनी पगड़ी न उतारी ।

"यह राहू है चितरंजन ! राहू हमारा मित्र" मैंने तीव्रता से चितरंजन को सम्बोधन किया । राहू ने चितरंजन को प्रणाम किया । इसके बाद राहू नीलकंठ से मिला । यह झूठ नहीं कि नीलकंठ ने राहू की आवाज़, शक्ल और उसकी थाप वैसे ही पहचानी जैसे मैंने ।

बचपन के दिन ! इज़्ज़त, सम्मान और लोक व्यवहार के बन्धनों से मुक्त; स्वतन्त्र मूल्य--अथाह प्यार-और चाव की कोई सीमा ही नहीं । न छल, न कपट; प्रसन्नता के आगे आगे कोई रोक नहीं, अटक नहीं, किसी की गोद में गिरने से आंच नहीं आती ।

बचपन आधा स्वर्ग है ।

यदि आज-------, या आज से दस साल पहले भी राहू मुझे उसी तरह मिलता तो क्या मैं उसे उसी तरह बांहों में जकड़ सकता !

अवसर आए भी हैं, पर मैं दूर से ही राहू को धीमे से बुलाता रहा हू, या अधिक से अधिक उसके कन्धे पर हाथ रख कर कहता रहा हू, "क्या हाल है तुम्हारा राहू ?"

क्या राहू भी मेरे उस संकोच को अनुभव करता था ? अवश्य करता होगा, पर अगर करता था तो वह यह भी जरूर समझ कर चुप कर रहता होगा कि वे दिन बचपन के थे और फिर में आने असम्भव हैं ।

राहू को मैंने चितरंजन के घर ठहराया । हरदयाल से मुझे राहू के अपमान का डर था ।

राहू केवल मुझे मिलने के लिये आया था। जैसलमेर में उसने चिन्त सागर के साथ व्यापार शुरू कर दिया था। लक्ष्मी मुझे प्रणाम भेजती थी और कुन्दन अब मुझे भूलता जाता था। राम सिंह की ओर से मेरे लिए राहू के पास एक चिठी थी। शेष जैसलमेर उसी तरह ही बसता था। कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। जैसलमेर वासी सरदार मान सिंह को भूलते जा रहे थे और कुमार सिंह उनकी याद में अटका ही कब था ? इसके अतिरिक्त राहू संयुक्ता को ढूंढ पाने की कोशिश करता रहा था और राजगढ़ की राजधानी में उसका पता बताता था।

राहू से संयुक्ता का समाचार सुन कर मेरा दिल उछल पड़ा मैं सँयुक्ता से जरूर मिलूँगा। बालक-बुद्धि थी। मैंने हठ किया कि हम अवश्य संयुक्ता की खोज में चलें। राहू ने समझाया पर मैं अपनी ज़िद पर अड़ा किसी की सुनता नहीं था, और मैंने निश्चय किया कि मैं जरूर जाऊँगा।

हरदयाल से अनबन तो शुरू से ही थी, अब सीधे ही उसकी अवज्ञा करने की बात मन में आई।

"मैं आठ दस दिन के लिए बाहर जाऊँगा" सोने से पहले दूसरी रात मैंने हरदयाल और शान्ती से कहा।

"क्या ?" शान्ति ने पहल की।

मैंने मन में कहा कि हरदयाल को भी हैरानी प्रकट कर लेने दो।

हां।" उसने भी कहा।

"हाँ" मैंने एक शब्द में ही उत्तर दिया।

इससे स्पष्ट पता चलता था कि मैं अपने निश्चय पर दृढ़ हूं।

"क्या तू आठ दस दिन के लिए बाहर जायगा ?" शान्ति बोली, जैसे उसे मेरे सरल शब्दों का अर्थ समझ न पड़ा हो।

"आठ दस दिन के लिए ।" मुंह बिचका कर हरदयाल भी बोला ।

हां, शायद मेरे एक शब्द के उत्तर से मेरे निश्चय की दृढ़ता और मजबूती साफ प्रकट हो रही थीं, जिसके कारण उन्होंने नर्मी से पूछा ।

"किस लिए ?"

"यह मैं आपको नहीं बताऊंगा ।"

वे दोनों एक दूसरे का मुंह देखने लगे और मैं करवट बदल कर सो गया ।

* * *

दूसरे दिन नक्षत्रों के प्रकाश तले मैं और राहू राजगढ़ की राजधानी की ओर जा रहे थे ।

तब मैं नौ वर्ष का था ।

शायद हरदयाल ने इस बहाने से मुझ से पीछा छुड़ाना बहुत अच्छा समझा था उन्हें मेरे जाने का दुःख हुआ, मैं नहीं जानता । पर मेरे लौट आने पर उसने कोई आश्चर्य प्रकट न किया । लगता था वह मरी अनुपस्थिति में बहुत सन्तुष्ट रहे थे ।

हम बारह दिन बाहर रहे । राहू के साथ में मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे जैसलमेर के खुशियों भरे दिन मुझे फिर मिल गए हों ।

हरदयाल और शान्ति से दूर रहने से कितना आनन्द था ! राहू ने मुझे बड़ा सुख दिया और मैंने कहा कि राहू के साथ दुनिया के दूसहे किनारे जाने पर भी मुझे कोई कठिनाई न होगी ।

हम राजगढ़ की राजधानी में सात आठ दिन घूमते रहे । कई गांवों में गए, पर संयुक्ता की कोई खबर न मिली । जिस आदमी की खोज में राहू आया था, वह मिल न सका !

कितनी आश्चर्य भरी बात होगी यदि एक ही सांस में यह भी बताता जाऊं कि इन दिनों में ही मैं संयुक्ता को मिला, उसके घर तीन रात रहा। पर मुझे नहीं पता था कि वह संयुक्ता है; न ही राहू ने मुझे बताया। और यह रहस्य मेरे जीवन के विशेष रहस्यों में से एक है।

बारह दिन की उस यात्राने मुझे बड़ा लाभ पहुंचाया। मुझे पता चला कि अमरावती के भी आगे और दुनिया है; कि मैं नीलकंठ के साथ महीनों तक वीरानों, जंगलो और नगरो में बिना डर के फिर सकता हूं; कि हरदयाल और शांति से आजाद होने का सुन्दर ढग क्या है? और सबसे बड़ा फायदा यह था कि मुझे सफ़र का चस्का पड़ गया। घोड़ पर देश-परदेश में घूमना मेरा स्वप्न बन गया।

मैंने यह भी निश्चय किया कि चाहे मै इस बार संयुक्ता को ढूंढने में असफल रहा हूं, पर उसे पाऊंगा अवश्य।

हम अमरावती लौट आए।

राहू ने कहा कि वह अब जैसलमेर वापिस जायगा। मैंने भी उसे और रोकना उचित न समझा। वह लक्ष्मी को बीमार छोड़ कर आया था।

जाने से पहले राहू ने वे अविस्मरणीय शब्द कहे, जिन्हें मैं आज तक भूल नहीं सका हूं।

"कुमार सिंह, यदि आपको कभी किसी आत्मीय सेवक की आवश्यकता पड़ी तो आप मुझे निमन्त्रण भेजने में झिझकोगे तो नहीं ?"

अश्रु-पूरित आंखों से मैंने वचन दिया। लक्ष्मी के लिए शुभकामनाएं भेजी। राम सिंह को पत्र लिखा। अपने पुराने घर और बाग को

प्रणाम कहलाया । कुन्दन के लिए कुछ खिलौने दिए—और राहू आया चला गया ।

राहू आया और चला गया । जैसे जैसलमेर अमरावती में चल कर आया और फिर लौट गया । राहू के जाने के बाद दूरी और भी बड़ी दिखाई देने लगी ।

*　　　*　　　*

बरस बीत गए अमरावती में रहते हुए । मैं तेरह साल का होने को आया ।

पता नहीं कितनी देर और नीरस और उस जैसी अर्थ—रहित जिन्दगी बितानी पड़ती यदि राणा सवाए सिंह, कान्ता और पृथ्वीसेन सहसा अमरावती न आ निकलते ।

कान्ता नाते में पिता जी की बहिन लगती थी । राणा सवाए सिंह से उसका विवाह हुए लगभग बीस वर्ष हो चुके थे । अमरावती के एक दूर के गांव देव नगर में वे रहते थे । उन दिनों राजधानी में बहुत धूमधाम थी ।

नये महाराज सुन्दर कुल गद्दी पर बैठ रहे थे । उसी उत्सव में भाग लेने के लिए राणा सवाए सिंह को भी निमन्त्रण भेजा गया था और इस बार वह कान्ता और पृथ्वीसेन को भी साथ ले आए ।

हमारे पास वे अमरावती में दस दिन रहे । फिर वापिस चले गए ।

यदि किसी ने इतने थोड़े समय में मुझे इतना अधिक अपनी ओर आकर्षित किया तो वह पृथ्वीसेन था । वह मुझसे दो साल बड़ा था । उसकी आँखें छोटी थीं और माथा चौड़ा । कद भले ही मेरे से थोड़ा ही ऊंचा था पर उसका शरीर कितना ही अधिक मजबूत लगता था । पृथ्वीसेन थोड़ा खाने वाला और कम बोलने वाला और

हठी था। पन्द्रह वर्षों में ही पिता, माता, बहिन, भाईयों के होते हुए, पता नहीं उसने कौन से दुःख सहे थे कि उस पर दृष्टिपात करते ही एक अत्यन्त असहाय व्यक्तित्व का आभास होता था और इसके अतिरिक्त वह बड़ा निर्लेप और लापरवाह लगता था।

यही निर्लेपता उसका सबसे बड़ा गुण थी। वह हमारे पास आकर रहा, वह मेरे साथ बोला, उसने मुझसे प्रश्न पूछे, मैंने उससे पहली बातचीत करते ही महसूस किया कि प्रयत्न करने पर भी मैं उसे अपने मन की बताने पर लाचार हो जाऊंगा। कोमल हृदय प्रतीत होता था। उसमें दूसरों की पीड़ा हरण कर लेने का गुण था।

वैसे ही हुआ। बिना उसके पूछने के, और बिना उसके अनुरोध के मैंने उसे अपने साथ बीती सारी कहानी सुना दी। मैं अपने इस तरह खुल पड़ने पर हैरान था और उस से भी बढ़ कर हैरानी इस बात पर थी कि पृथ्वीसेन सिवाए "हां" "नहीं" 'अच्छा' से अधिक कुछ भी नहीं कहता था।

राणा सवाए सिंह और कान्ता बड़ी स्नेह-सिक्त जोड़ी थी। जाने से पहले कान्ता ने हरदयाल और शान्ति से कहा," कुमार सिंह को कुछ दिन के लिए हमारे साथ भेज दो।"

शान्ति ने मेरी ओर देखा, जैसे मेरा उत्तर मांग रही हो। फिर बोली "ऐसे ही आपको तंग करेगा।"

मुझे बहुत शर्म आई। मैं तो अपने आपको जवान समझने लग गया था।

"तंग क्यों? कुमार सयाना है। मुझे तो लगता है कि सरदार मान सिंह का नाम रौशन करेगा।" राणा सवाए सिंह ने मेरी ओर शुभकामनाओं भरी दृष्टि डाल कर कहा।

राणा जी के ये शब्द मेरे रोम रोम में रम रहे हैं। इनमें मेरे लिए बहुत शाबाश भरी थी। पहली बार जीवन में मैंने किसी बड़े

आदमी से अपने सम्बन्ध में ये शब्द सुने थे। और फिर कितने निकट होकर कहे गए प्रतीत होते थे ये शब्द, "पिता जी का नाम......।" हां, मैं भी कहता था, "पिता जी का नाम .....मैं जरूर रोशन करूंगा।"

हरदयाल और शान्ति से यदि बन पड़ता तो मैं जानता हूं कि वे क्या उत्तर देते। पर पता नहीं वे क्या सोच कर चुप कर रहे। और हरदयाल ने केवल यही कहा :

"फिर कभी आ जायगा।"

और रथ में बैठते समय पृथ्वीसेन ने वही परायों जैसा चेहरा मेरी ओर करके खोए और अनात्मीय भाव से कहा, "कुमार सिंह, तुम्हें देव नगर आना पड़ेगा, भूलना मत।"

और वे चले गए।

# ६

पृथ्वीसेन और उसके माता-पिता मेरे जीवन को बेचैन कर गए। पहले केवल बे-आरामी थी, अब बेचैनी भी साथ आ लगी। पहले मैं कुढ़ता, सड़ता और छुटकारे की कोई राह न देख कर सिर्फ उदास हो जाता था, अब दूर कहीं देवनगर में सुख और शान्ति का दीपक जलता नज़र आने के कारण मन में व्याकुल रहता। अब मुझे हरदयाल और शान्ति के उपालम्भ, व्यंग्य और आक्षेप बहुत चुभते थे।

मैं मन में देवनगर के सुन्दर चित्र बनाने लगा। वह कैसा नगर होगा? वहां के लोगों का स्वभाव कैसा होगा? क्या पृथ्वीसेन मुझसे अधिक खुल कर न बोलेगा? क्या वह सदा उसी तरह निर्लेप और रहस्यमय रहेगा?

मैं परिवर्तन चाहता था। केवल एक अटकाव था—चितरंजन। को मिल सकूंगा? चितरंजन क्या कहेगा? और मुझे यह कहने में भी संकोच नहीं कि हरदयाल वग़ैरह से तंग आकर यदि मैं अमरावती

को पहले ही त्याग नहीं गया था तो वह भी केवल चितरंजन के कारण।

पर कहाँ तक ?

× × ×

एक सन्ध्या मैं और चितरंजन घोड़े की सवारी करके लौटे। हरदयाल ने उसी प्रात: मुझे कहा था कि मैं घोड़े पर शाम को सैर करने न जाऊँ। पर मुझे अनजाने ही वह बात भूल गई।

भाग्य से उस शाम मैं चितरंजन को कुछ पुराने चित्र तथा एक दो पुराने शस्त्र, जो मैं जैसलमेर से साथ लाया था, दिखाने के लिए साथ ले आया।

हरदयाल मेरी प्रतीक्षा में था।

"कुमार सिंह, मैंने जो तुम्हें कहा था कि बाहर जाना है, घोड़ा मत ले जाना" उसने घूर कर कहा। मैं अभी घोड़े से उतरा भी नहीं था।

चितरंजन ने शायद उसका गुस्सा टालने के लिए या वैसे ही कहा, "प्रणाम चचा जी।"

हरदयाल ने उसका कोई उत्तर न दिया।

उसने फिर मुझ से कहा "बोलता नहीं !"

"मुझे याद नहीं रहा था, चाचा जी···"और मैं घोड़े से उतरने लगा।

मेरा एक पाँव रकाब में था और एक अभी ज़मीन से भी नहीं लगा था कि मैंने हरदयाल को यह कहते सुना,

"तुझे कैसे याद रहेगा ? आज के बाद तू मेरा कहा नहीं भूलेगा।"

मेरे घोड़े से उतरते ही हरदयाल ने एक चपत मेरे मुंह पर दे मारी।

एक ओर दया चन्द खड़ा था, दूसरी ओर चितरंजन। चितरंजन—जिसे मैं आज मजबूर करके घर लाया था, मेरा मित्र, मेरा साथी।

"हरदयाल ......" मैंने घूर कर उसकी ओर देखा। पहली और आखिरी बार मैंने उसे उसके सामने हरदयाल कह कर बुलाया।

पर चितरंजन ने आगे बढ़ कर मेरी घूंसा ताने बांह को पकड़ लिया।

यदि दया चन्द और चितरंजन वहां न होते तो शायद मैं हाथ न उठाता। पर उनके सामने हुए अपमान को में सह न सका; कितनी बार मैंने मन ही मन उस अपनी इस हरकत पर विचार किया है। और निःसन्देह कितनी बार अपने आपको किसी सीमा तक दोषी ठहराया है, पर बहुत बार में अपनी इस हरकत का समर्थन करने से नहीं रह सका हूं।

मेरे हाथ उठाने पर हरदयाल जैसे डर गया। उसे अपनी इज्जत का ख्याल था। उसने दया चन्द के हाथ से लगाम पकड़ ली।

पहली बार नीलकंठ ने भी मेरे साथ हुए दुर्व्यवहार के प्रति आवाज उठाई और हरदयाल को अपनी पीठ पर बिठाने से इन्कार कर दिया।

गुस्से में पागल हुआ हरदयाल वहाँ से चला गया।

* * *

उसी क्षण अमरावती में मेरा अन्नजल समाप्त हो गया। अन्दर जाकर मैं अपना सामान बांधने लग पड़ा। चितरंजन ने मेरी बांह पकड़ी, "कुमार, क्या हो गया है तुझे?"

भरे हुए मन से मैंने कहा—"आज रात क्या मुझे अपने यहाँ जगह दोगे?"

"कुमार—इस तरह मत करो दोस्त—यह बात अच्छी नहीं।

मैंने दिल को कठोर करके कहा—"चितरंजन, क्या तुम मुझ बेघर को एक रात का आश्रय देने से डरते हो ?"

जानता था उससे ज्यादती कर रहा हूं। "ओह, कुमार !" ठंडी आह भर कर शीघ्रता से चितरंजन ने मुझे छाती से लगा लिया। उसके कन्धे पर सिर रख कर मैं कितनी देर रोता रहा। चितरंजन चुप रहा। फिर शायद उसकी आखें भी भर आईं। उसकी हिचकियों की आवाज मैंने सुनी। फिर उसने मेरे आसू पोंछे, मुझे प्यार किया।

उस रात मै और चितरंजन एक साथ सोए। आधी रात से अधिक समय तक हम बातें करते रहे।

"कहां जाओगे कुमार ?" मेरे जाने का निश्चय सुन कर उसने कहा।

"जहां भाग्य ले जायगा, रंजन—"

"तुम मेरे पास ही क्यों नही रहते —"

"अब अमरावती में मेरे दिन चुक गए।"

"कुमार, क्या तुम्हारे यहां टिके रहने का कोई उपाय नही ?" मेरे नयन फिर भर आए। सोने से कुछ देर पहले उसने फिर कहा—"कुमार, अब तुम्हारे चित्र और शस्त्र मै कब देख सकूंगा ?"

गद्गद-कंठ मैंने उत्तर दिया—"रंजन, यदि किस्मत के लेख उलटे न हो जायं तो अवश्य हम शीघ्र ही मिलेंगे।"

प्यारा, सुन्दर, स्नेही और अच्छा रंजन ! यदि वह अमरावती में न होता तो मैं कभी का आत्म हत्या कर चुका होता।

* * *

कल शाम से नीलकंठ चितरंजन के अजिर से बंधा था। सुबह उसने मेरा स्नेहिल हिनहिनाहट के साथ स्वागत किया, जैसे अमरावती से निकल भागने में सन्तोष को प्रकट कर रहा हो।

चितरंजन मेरे साथ साथ अजित पर चढ़ा आ रहा था। अमरावती पीछे रह गई थी, और उससे भी पीछे था—दूर, बहुत दूर जैसलमेर !

सूर्य बहुत ऊपर आ गया था और धूप तेज़ हो गई थी। एक वट वृक्ष की छाया में मैंने नीलकंठ को रोका।

"अब तुम जाओ रंजन—"

"कुमार ....." भावोद्वेग से चितरंजन ने कहा "क्या हमने इस तरह ही बिछुड़ जाना था ?"

"चितरंजन" मैंने रुंध गले से कहा—"मेरे इरादों को कमजोर न कर।"

"कुमार," उसकी आवाज भारी हो गई। "काश ! तुम सदा मेरे साथ रह सकते—"

गहन उदासी ने इसका उत्तर मेरे दिल में ही दाबे रखा।

मैंने चितरंजन पर अन्तिम दृष्टि डाली। आह ! वह कोमल, भोला, सुन्दर चेहरा, आशाभरी नज़रें, धड़कता दिल,—चितरंजन अजित की लगाम पकड़े खड़ा था।

नीलकंठ निराश गति चलता गया। फिर अनजाने ही उसकी गति में उत्साह नाच उठा और उसके क़दम पवन से भी तेज होते गए।

अमरावती की कैद पीछे थी, और पूर्ण आज़ादी की खुली राह मेरे सामने।

* * *

और यह काण्ड समाप्त करने से पहले मैं हरदयाल को इन पृष्ठों में बार-बार घसीटने से निश्चिन्त होना चाहता हूं। पहले ही वह मेरी मर्जी के विरुद्ध इतनी दूर तक चलते आए है। मेरा दिल करता है कि जितना कम उन्हें याद करूं, अच्छा है।

जैसे मैं पहले लिख आया हूं कि शान्ति ने मेरे जाने के बाद

छः बच्चों को जन्म दिया, जिनमें से चार अभी तक जीवित हैं। हरदयाल की मृत्यु को वर्ष बीत चुके हैं और शान्ति अपने बड़े पुत्र के साथ अभी भी अमरावती में रहती है। मुझे कई बार अमरावती जाने का अवसर मिला है, पर मैं उनके घर नहीं गया और लगता है कि इसके कारण दोनों पक्षों को कोई हानि नहीं हुई। इसके अतिरिक्त दो-तीन बार हरदयाल को मिलने का संयोग भी हुआ था, पर 'प्रणाम' को छोड़ और कोई बात उससे करनी मैंने उचित नहीं समझी थी और इन शब्दों के साथ मैं अपने चाचा, चाची और उनके परिवार को प्रणाम करता हूं।

# ७

जैसे-जैसे मेरे और अमरावती के बीच दूरी बढ़ती गई, चिनरंजन के वियोग का अनुभव तीक्ष्ण होता गया।

बिना कुछ निश्चय किए, बिना किसी लक्ष्य के ज्ञान के मैं घर से निकल पड़ा था। मैंने कहां जाना था ? अमरावती से दस मील बाहर आकर मुझे ज्ञान हुआ, कि मैं नहीं जानता था। अमरावती में रहते जिस लक्ष्य का आकर्षण मुझे व्याकुल करता रहा था, जिस नगर का आकर्षण मेरा बचपन बड़ी तीव्रता से अनुभव करता था, अब वही देवनगर सहसा मेरे लिए बहुत धूमिल हो गया।

देवनगर जाकर मैं क्या करूंगा ? मैं किसलिए आया हूं ? क्या मैं उनको बता सकूंगा कि मैं अमरावती से बिना ब[illegible] आया हूं ?

मेरे आस पास शान्ति थी। सारे वातावरण में जैसे एक शून्यता समा गई हो। पत्ते हवा से हिलते थे, पर सरसराते नहीं थे ! मैंने अपने पिछले पांच वर्षों पर नजर डाली और मेरे निर्बल तथा डांवांडोल दिल में पिता जी की याद आई।

वह याद जैसे चुम्बक हो, जैसे बिजली की किरण। मैंने अपने अन्दर शक्ति का अनुभव किया। पहली बार पिता जी के वे शब्द स्वतः मेरे मस्तिष्क में स्पष्ट हुए :

"तुम राजपूत कुल के दीपक हो," उन्होंने कहा था, "तुम मानसिंह के पुत्र हो और निर्भय सिंह की अंश। तुझे भय भयभीत न करें, तुझे कठिनाइयां पीड़ित न करें, तुझे दुःख दुखी न करें, यही आन रखने वाले सच्चे राजपूत की जीवनी है।"

ये शब्द जैसे मेरे अस्तित्व का एक महत्वपूर्ण स्तम्भ हों, कितनी बार विपत्तियों के समय मैंने इन्हें याद किया है। कितनी बार मैंने इनसे वह हौसला, दैवी शाबाश और प्रोत्साहन पाया है, कि मेरे पिता जी की साक्षात प्रतिमा प्रतीत हुए है।

इन शब्दों के साहचर्य में मुझे मार्ग की कठिनाइयां सरल प्रतीत हुई हैं।

किन्तु उस समय मेरी मंज़िल अब भी उसी तरह धुंधली थी।

तेरह वर्ष की अवस्था में मुझे अपने स्वाभिमान पर गर्व था। किसी पर बोझ डालना मुझे अच्छा नहीं लगता था। अपने अन्तःकरण में मुझे देवनगर जाने में एक तरह की हेठी दिखाई दी। तब प्रश्न था,—मैं कहां जाऊं ?

अचानक एक विचार आया। राहू ? जैसलमेर ? परन्तु दूसरे ही क्षण शंकाएं प्रकट हुईं। नहीं, मैंने कहा, वे उस समय डेढ़ सौ मील से भी दूर थे। तो क्या राजगढ़ के उसी गांव में जा रहूं, जहां हम संयुक्ता को ढूंडने गए तीन रात रहे थे।

नीलकंठ से उतर कर एक घने वृक्ष की छाया में मैं तने से टेक लगाए सोचता रहा।

बचपन में ही मेरी जल्दी जल्दी फैसला कर लेने की आदत थी; तंग आकर मैंने चलने का निश्चय किया और मेरा प्रण था कि घोड़े

की पीठ पर बैठने से पहले मैं अपने रास्ते का पक्का निश्चय कर लूंगा ।

मस्तिष्क में विचारों का चक्कर घूमने लगा । उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सभी दिशाएं मेरी आंखों के आगे घूमने लगी । इतनी देर में मैं नीलकंठ को फिर खोल चुका था ! विचारों की गति और भी तेज़ हुई, विचारों में एक नई ही स्फूर्ति आई । मैंने रक़ाब में एक पैर रखा, ऊपर चढ़ने से पहले निर्णय आवश्यक था, घोड़े का मुंह जैसलमेर की ओर था । "मैं पहले जैसलमेर जाऊंगा," मैंने कहा ।

* * *

राह से अनजान । अपरिचित संसार से घिरे हुए मैंने डेढ़ सौ मील लम्बे सफर की ठान ली ।

आठ दिन बाद मैं जैसलमेर पहुंचा । मेरी इस यात्रा में दो घटनाएं विशेष वर्णनीय हैं ।

एक थी, एक गांव जयपुर के निकट मेरा विवाहित दम्पति से मिलना । शाम का वक्त था, मैं रात कहीं टिकने की जगह खोजने के प्रयत्न में था कि अपने निकट ही दाईं ओर अस्त होते सूर्य की किरणों पर तस्वीर की तरह लगी यह जोड़ी देखी । मेरे से पहले उन्होंने मुझे देख लिया । और शायद मुझे भटका राही या घर से भागा बच्चा समझ कर मेरे पास आए ।

"किधर घूमते हो लाड़ले ?" पुरुष ने मधुर स्वर में पूछा ।

"रात काटनी है, किसी अच्छी जगह की खोज है" मैंने सहज स्वर में उत्तर दिया ।

स्त्री मुसकराई ।

"यहां पास ही गांव है, वहां क्यों नहीं चले जाते ?"

मुझे अच्छा नहीं लगता" पता नहीं मेरे लहज़े (स्वर) में क्या

था कि वे आकर्षित हुए। युवक घोड़े से उतर कर मेरे पास आया, "तुम्हें कोई दुःख जरूर है कुमार" और उसके बाद भी कितनों ने अनजाने ही मुझे कुमार कह कर बुलाया है और मैं इस सम्बोधन पर खुश होता आया हूं। उन्होंने मुझसे कुछ प्रश्न पूछे। किन्तु मैंने उन्हें वही उत्तर दिया कि दिल बहलाव के लिए मैं दस-बारह दिनों के लिए घर से निकला हूं।

स्त्री ने, जिसका नाम, मुझे उसके पति के मुंह से 'मोहिनी' ज्ञात हुआ, बड़े हित और प्यार से मुझे रात अपने घर काटने पर मजबूर किया।

दूसरे दिन सुबह चलने से पहले उन्होंने मुझे सदा के लिए अपने पास रहने का निमन्त्रण दिया, पर मैं स्वीकार न कर सका।

ज्योति और मैं जब कभी घोड़ों पर बाहर सैर करने जाते हैं तो मुझे उस दम्पति की याद आती है और उनका तथा उनके प्यार का उल्लेख मैंने कितनी बार ज्योति से किया है। जीवन-पथ पर चलने की थकावट और यात्रा की कठिनाइयाँ आधी रह जाती हैं यदि कहीं कहीं सुन्दर, प्यार भरे मनुष्यों और युगलों से हमारा मेल हो सके।

* * *

दूसरी घटना भिन्न प्रकार की है।

यह मेरी यात्रा के सातवें दिन घटित हुई।

अपनी रोटी और नीलकंठ के चारे का प्रबन्ध करके मैंने अभी मील भर का रास्ता ही काटा था कि मेरे सामने से एक युवक तेजी से घोड़े पर निकल गया। उसके पीछे एक वृद्ध-पुरुष हाँफता-हाँफता दौड़ा आ रहा था, पर उसकी दौड़ बड़ी हास्यजनक लगती थी। उस चाल से तो वह घोड़े की उड़ाई धूल तक भी नहीं पहुंच सकता था! उसकी परेशानी को देखते हुए मैंने नीलकंठ को ऐड़ी लगाई और उससे पूछा: "क्या बात है बाबा?"

"मेरा घोड़ा—,मेरा घोड़ा—,बदमाश मेरा घोड़ा और मेरा घर लूट कर ले गया—" वह त्रिलबिलाया। शायद मैं अपने बाहू-बल की परीक्षा लेना चाहता था। शायद मैं कहानियों में सुने वीरों जैसा यश कमाना चाहता था। शायद वह चढ़ती जवानी का जोश मात्र था या केवल किसी के काम आने की अगम्य चाह, जो कुछ भी था मैंने नीलकंठ पर से 'खुर्जी' उतार कर बूढ़े के पास फेंकी और घोड़े की टापों की आवाज का पीछा करते हुए मैंने नीलकंठ को उसके पीछे लगा दिया। थोड़े समय में ही नीलकंठ की पवन से तेज़ छलाँगों ने आगे जाने वाले सवार को जा पकड़ा।

"क्या बात है युवक ?" लगाम खींचते हुए उसने रोब भरी आवाज़ में ललकारा। उसका दम फूल रहा था।

"किसी का घोड़ा चुरा कर तुमने अच्छा नहीं किया।"

एक पल हैरान हुआ वह मुझे घूरता रहा। "यह घोड़ा तुझे वापिस करना पड़ेगा" मैंने उसे सचेत किया।

"और यदि मैं न लौटाऊं तो··· ?"उसने लापरवाही से पूछा।

"तो······"मेरा भाव था कि मुझे जबरदस्ती करनी पड़ेगी।

"तेरी उम्र छोटी है, छोटे मुँह बड़ी बात शोभा नहीं देती।"

"उम्र छोटी है पर हौसला बड़ा है—हाथ आज़माने पर न आ।"

मेरी डांट पर वह चौंका।

"दौड़ जा छोकरे। नहीं तो ·····"उसने मेरा अपमान किया—और मैंने नेज़ा खींचा।

मैंने जाँच लिया कि मेरी इस क्रिया से वह चकरा गया और इस कारण मेरा हौसला बढ़ गया।

"ठहर" उसने कहा।" तेरे पास तलवार है ? तलवार निकाल, नेज़े के आगे मैं निहत्था हूं।"

मैंने नेज़ा पकड़ा। तलवार निकाली। उसने भी तलवार निकाली।

पहला वार उसने किया। मैंने सहज ही रोक लिया। फिर मैंने तलवार उसकी जाँघ की ओर उठाई। उसने मुश्किल से झेली। और इतना घबराया कि मेरा दायाँ सारा खाली देख कर भी वह पलट कर वार न कर सका। दो चार वार और हुए। एक वार लौटाते हुए मेरी कनपटी के साथ उसकी तलवार की नोक भी छू गई और पतली सी खरोंच में से खून की बूँदें टपक कर मेरे चोले पर गिरीं। और इस जोश में मैंने अगला वार दांत पीस कर किया और वह धरती पर गिर पड़ा।

"जाओ, मैं तुझे क्षमा करता हूं" बड़े बलवान भाव से मैंने उससे कहा .....।

यह मेरी जिन्दगी का पहला युद्ध था। बाद में तो अनेक मुठ-भेड़ें हुई हैं पर पहली घटना ने मुझे जितना उत्साहित किया, हल्दी की विजय भी उस सीमा पर पहुंचने में असमर्थ रही।

उस दिन मुझे अपने बल का साक्षात् ज्ञान हुआ। अपनी तलवार की शक्ति प्रत्यक्ष सामने आई। "मैं अब संसार का सामना कर सकूंगा।" मेरे मन में यह आवाज़ उठी।

वृद्ध मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे देख कर वह खुशी से पागल होकर नाच उठा।"शाबाश, पुत्र, शाबाश ! जिस कोख से तू पैदा हुआ है, वह सदा हरी रहे।"

आह ! वह नहीं जानता था कि मुझे जन्म देने वाली कोख कब की संसार को त्याग चुकी थी।

# ८

जब भी मैं किसी जगह को छोड़ कर थोड़ी देर बाद वहां वापिस लौटा हूं तो मुझे सदा वह बदली हुई लगी है। भले ही रोज वहां रहने वालों को परिवर्तन भी परिवर्तन नहीं लगते, परन्तु देर बाद लौटने वाला परदेसी सारे वातावरण में अवश्य कुछ परिवर्तन हुआ महसूस करता है।

यही कुछ मैंने जैसलमेर में देखा। आटे की चक्की थी, किन्तु लगता था वीरान पड़ी है। लहलहाते खेत फीके-फीके लगते थे। लगता था मकान अपनी जगह पर नहीं, गलियां उलट-पलट कर दी गई हैं। अपना घर और बाग इस तरह आपरिचित लगते थे, जैसे मैं कभी वहाँ रहा ही न होऊं।

इन भावों ने मेरे कोमल मन पर गहरा प्रभाव डाला और इसके साथ ही राहू को वहां न पाकर मेरा रहा सहा उत्साह भी बुझ गया। वह अपने व्यापार के सम्बन्ध में कहीं बाहर गया हुआ था। लक्ष्मी ने मेरी आवभगत अवश्य की, पर मैं और लक्ष्मी कभी इतने नज़दीक नहीं हुए थे और फिर पांच साल के अन्तराय ने मुझे और भी दूर

कर दिया था। कुन्दन मुझे भूल चुका था। जिस कुन्दन को मैं अपनी झोली में खिलाता छोड़ कर गया था, अब वही कुन्दन अपने जैसे एक और कुन्दन को अपनी झोली में खिलाता था।

रामसिंह और उसके पिता सरदार शाम सिंह भी अपनी ज़मीन की देख भाल के लिए बाहर गए हुए थे। मुझे मेरे एक दो और पुराने मित्र मिले। पहले तो उन्होंने मुझे पहचाना ही नहीं! पर पहचान कर भी वे मुझ में पहला कुमार न पहचान सके।

उदासी ने मुझे काट खाया। मैंने सोचा, "अभी पांच साल तो हुए हैं सिर्फ पांच साल।......हम कितनी जल्दी भूल जाते हैं! कितनी जल्दी हमारे प्यार के अक्षर वायु में विलीन हो जाते हैं।" उस उम्र में ही नहीं उसके पीछे भी जितना दुःख बिछोड़ों ने मेरे दिल को पहुंचाया है, उसके समक्ष सब दुःख तुच्छ प्रतीत होते हैं। वियोग, प्रेयसियों से ही नहीं, मित्रों से ही नहीं अपितु हर उस स्थान से जहाँ मैं कुछ दिन टिका हूं। वियोग, प्रत्येक वस्तु से जिससे कुछ दिनों का भी सम्बन्ध रहा है। वियोग, प्रत्येक वृक्ष से प्रत्येक पक्षी से, पवन के प्रत्येक झोंके से, मेरे मन पर कठोरता से तड़ातड़ चोटें मारता रहा है। यह जानते हुए भी कि परिवर्तन, वियोग और मिलन प्रकृति के अटल नियम हैं, कि शाश्वत मिलन आधी मौत है। परिवर्तन, अनन्त, अमिट परिवर्तन संसार और जीवन की धुरी है! यह जानते हुए भी कि जब जीवन में एक एक सारता आ जायगी, जीवन समाप्त हो जायगा।

यह सब कुछ जानते हुए भी हर परिवर्तन और हर बिछोड़े के समय जीवन में सहे सारे दुःख पुनः सजीव हो जाते रहे हैं, और उनकी पीड़ा मैं नए सिरे से महसूस करता रहा हूं।

जैसलमेर में मैं अपने पुराने घर की ओर दृष्टिपात करने गया। वहां सूनापन भायँ भायँ कर रहा था। भारी दिल से लौटने लगा।

पर नीलकंठ ने अन्दर जाने की इच्छा प्रकट की। वह हिनहिनाया। उसने मुँह मारा और किसी न किसी तरह मुझे बताता रहा कि उसने अपने पुराने निवास स्थान को पहचान लिया है, और अब उसे अच्छी तरह देखने का इच्छुक है। उसके हठ करने पर मैं उसे अन्दर ले गया।

बड़ी मुश्किल से, लक्ष्मी के अनेक बार कहने पर मैंने दो रातें जैसलमेर में बिताईं।

और तीसरे दिन मैं था और नीलकंठ था तथा हमारे सामने था—एक लम्बा अनजाना पंथ।

\+ \+ \+ \+

देवनगर अमरावती के सम्मुख एक छोटा गांव था, और भले ही अमरावती जैसा सौन्दर्य वहां चारों ओर बिखरा हुआ नहीं था, पर शान्ति और सुख का वायुमण्डल देवनगर में अवश्य था, जैसे इसका देवनगर नाम से कोई विशेष सम्बन्ध हो।

पर नहीं, देवनगर नाम किसी देवता के नाम पर नहीं पड़ा था। देव सागर उस ओर का एक महान बलवान् वीर हो चुका था और दो सदियों से उसके नाम पर यह देवनगर मशहूर चला आता था।

वक्त थे, जब वहां भी अमरावती की भाँति महल, सराएं और सड़कें थीं, पर वे वक्त गुज़र चुके। अब उन वक्तों की याद दिलाने के लिए केवल चार खण्डहर हैं, चार मिट्टी के ढेर जिनके तले पुराने देव सागर का देव नगर दबा पड़ा है।

नए देवनगर का इतिहास कोई सौ साल से शुरु होता है जब पुराने देवनगर को सरस्वती की बाढ़ों ने आधे से अधिक बरबाद कर दिया था। देवनगर अमरावती से कोई दो सौ मील के अन्तर पर है—और वहां आकर मुझे पता चला कि देवनगर अमरावती का अन्तिम बड़ा नगर है और उस से तीस मील आगे विजयपुर की राजधानी है।

विजयपुर !!!

जब मैं राणा सवाए सिंह का घर पूछता वहां पहुंचा तो वहाँ श्रीमती कान्ता के सिवा और कोई घर में नहीं था। पहले तो कान्ता ने मुझे पहचाना ही नहीं। हैरान था कि दो ही महीनों के अन्दर मेरे में क्या भारी परिवर्तन हो गया है।

"मैं कुमार सिंह हूं।" मैंने कहा।

"कुमार सिंह!" और मुझे पहचानते ही उनका चेहरा खिल उठा।

"मैंने तो तुझे पहचाना ही नहीं, पुत्र! तू तो कोई बड़ा बली बलवान लगता है।"

उन्होंने मुझे अपनी बाँहों में जकड़ लिया। मुझे चूमा; और उस आलिंगन में मैंने अपने होश में सबसे अधिक छोटा महसूस किया। उस जकड़ में मातृ-स्नेह सा आवेग था। मेरा मंद-भाग्य, मुझे मां की गोद और मां के आलिंगन का आनन्द नहीं मिल सका था। कान्ता का आलिंगन मुझे मस्ती में ले गया।

मातृ-हृदय स्त्रियां संसार की सारी की सारी शीतल छाया ही तो हैं।

मेरी आंखों में अश्रु ढुलक आए! वे आंसू अपनी माता की अर्थी पर बहाए आँसू थे, अपनी स्वर्गवासी मां के समर्पण।

"राणा जी और पृथ्वीसेन बाहर गए हुए हैं, आज शाम तक लौट आएंगे।

इतने में सुमेर सिंह, उषा और मनोरम भी आ गए। ये पृथ्वीसेन से सक्रम छोटे थे। सुमेर सिंह लगभग नौ साल का था, उषा छः साल की और मनोरम सबसे छोटा तीन वर्ष का। सुमेर सिंह ने मुझे प्रणाम किया। कान्ता के कहने पर उषा ने मेरी गोद में आकर मुझसे

प्यार लिया और मनोरम झिझकता, संकोच करता अपनी माँ के घुटनों के पीछे छिपता रहा।

मुझे लगा मैं उस परिवार का एक व्यक्ति हूं।

× × × ×

शाम को राणा सवाए सिंह और पृथ्वीसेन आए। सवाए सिंह ने मुझे देख कर कुछ हैरानी प्रकट की। पर पृथ्वीसेन के चहरे पर यदि कभी हैरानी या किसी और भाव की छाया पड़ती थी तो वह सदा अदृश्य रहती थी।

राणा सवाए सिंह और सरदार वीर सिंह के आचरण में बहुत कुछ समानता थी। दोनों सज्जन कम बोलने वाले, आत्म-निरीक्षक इन्सान थे! दोनों बड़े विद्वान और विनम्र। हां सवाए सिंह पर प्यार का रंग विशेष चढ़ा था, वह खुश हो सकते थे और ऊंचा हंस सकते थे। यही कारण था कि चितरजन के पिता सरदार वीर सिंह की अपेक्षा राणा सवाए सिंह से मुझे बहुत मोह हो गया और मैं मन ही मन में उन्हें पिता तुल्य जान कर उनका आदर करने लगा।

पृथ्वीसेन ने मुझे स्नेह-रहित 'स्वागतम्' कहा। वह स्नेह-शून्यता जो कृत्रिम स्नेह से कहीं प्रिय होती है।

"मैंने तुझे कहा था कि तुम्हें देवनगर आना पड़ेगा" उसने कहा।

"और मैंने तुम्हारा कहा लौटाया तो नहीं न।" मैंने उत्तर दिया।

"अब तू यहीं रहेगा कुमार" और उसने मेरी गर्दन के गिर्द बांह डाल दी।

अब मैं यहां ही रहूंगा! सच इन पांच-सात घंटों में मुझे यह महसूस हो रहा था कि मैं यहाँ ही रहता आया हूं और जैसे यहाँ ही रहूंगा। और अब पृथ्वीसेन ने दावे से यह बात कही थी। वह जो कुछ कहता था, उसमें से मुझे 'अवश्य' की गन्ध आती थी।

पर यहां मैं कैसे रह सकूंगा ? मैं फैसला करके आया था कि देवनगर मे मेरा निवास केवल एक यात्रिक अथवा एक अतिथि की भांति होगा। और पन्द्रह दिन बाद जब मैंने वहां से जाने का निश्चय प्रकट किया, तो मुझे ज्ञात हुआ कि वह निश्चय कितना कमज़ोर था। मुझे अपनी विवशता पर गुस्सा आया; अपनी लाचारी पर क्रोध। पर असल बात यह थी कि उन पन्द्रह दिनों में मैंने एक बार भी यह महसूस न किया कि मैं एक यात्रिक हूं, या एक अतिथि।

फिर भी मैंने हिम्मत करके पृथ्वीसेन से कहा, "मेरा अब यहां से जाने का इरादा है।"

"कहां ?" वह कटु स्वर में बोला।

"जहां किस्मत ले जाय।"

"पर आगे तो तुम्हारी किस्मत तुम्हें यहां ले आई थी।"

"और अब शायद किसी और जगह ले जाय।"

"इस तरह किस्मत पर बैठने से वह जाना तुम्हारी आन का अपमान है।"

किन्तु यह 'किस्मत' शब्द एक ढकोसला था, और एक ढकोसला है जो हम भविष्य की अनिश्चितता से चिढ़ कर और किसी अच्छे शब्द के अभाव के कारण प्रयोग करते है।

भले ही मैंने अपने जीवन की लगामें भाग्य के हाथ में नहीं सौंप दी थीं, तो भी मुझे पृथ्वीसेन के शब्द चुभे। मैंने कहा :—

"नहीं, तूने मुझे समझा नहीं, अपितु इसके विपरीत मैं अपनी किस्मत आप बनाना चाहता हूं।"

"नहीं, मैं तुझे समझ गया हूं, कुमार। अपनी किस्मत बनाने में हमें भी थोड़ा हाथ बंटा लेने दे।"

उसके शब्दों में कुछ विनय थी। पहली बार वह मुझसे कुछ मांग

रहा था। और मैंने सोचा, शायद ही फिर इस जीवन में वह मुझसे कुछ मांगे।

"अच्छा, यदि राणा जी और माता जी तुझे आज्ञा दे दें तो मुझे कोई इन्कार नहीं" उसने स्वयं ही मेरी समस्या का समाधान पा लिया। उलझन डाल कर आप ही सुलझाई! पर राणा जी और माता जी से जाने की आज्ञा मागनी उससे भी बड़ी कठिनाई प्रतीत हुई! सोचता था, जब वे पूछेंगे कि कहां जाने की सोचता हूं, तो क्या उत्तर दूंगा।

उन्हें पता था कि मैं अमरावती तो लौट कर जाने से रहा। मेरे वहां आने से पहले ही हरदयाल का सन्देशा वहाँ आ चुका था कि कुमार नाराज़ होकर घर से भाग गया है। शायद इसीलिए माता कान्ता ने मेरे ऊपर प्यार की बौछार की थी, और शायद इसी करके राणा सवाए सिंह मुझे अपने बच्चों से भी अधिक स्नेह करने लग पड़े थे। राणा सवाए सिंह की सूक्ष्म-प्रशंसा मुझे बड़ी प्यारी लगती थी। वह मुझे राणा मान सिंह के बंश का तारा कहा करते थे और कभी २ मेरे पास बैठ कर ऐसे विचार-विमर्श किया करते थे जैसे मैं प्रौढ़ युवक होऊं।

अन्त में मैंने साहस करके राणा जी और माता कान्ता के सामने अपने कमजोर दिल के विचार खोल ही दिए।

"मैं अब जाऊँगा माता जी," मैंने राणा जी के सामने माता कान्ता से कहा।

"कहाँ ?" उन्होंने हैरान होते हुए प्रश्न किया।

"मुझे अब यहां रहते काफी दिन हो गए है।" मैं बात टाल कर कहा।

"तो फिर क्या .....?"

"मैं अब जाना चाहता हूं।"

"पर यहां—?" वही प्रश्न ! आखिर मुझे इस 'कहां' का उत्तर देना ही था।

"राजगढ़ में मेरा एक मित्र है।"

"तो जाओ। सेन भी तेरे साथ जायगा, मिल–मिला कर लौट आना।"

समस्या सुलझते-सुलझते फिर उलझा गई।

"मैं वचन नहीं देता। कभी न कभी वापिस जरूर लौटूंगा।" मैंने कहा।

उस समय माता कान्ता ने फिर मुझे अपने आलिंगन में ले लिया और मैं युवा कुमार से फिर छोटा कुमार बन गया ! कान्ता का यह आलिंगन पहले आलिंगन से अधिक स्नेह-सिक्त था। मुझे प्रतीत हुआ, मां की बाँहें मुझे देवनगर में बांध कर बिठाए रखेंगी।

"कुमार पुत्र, तू कहीं नहीं जायगा ?···तेरा हमें कोई भार नहीं। सुमेर; उषा और तेरे में फ़र्क ही क्या ? इस तरह परायों जैसी बातें नहीं करते।"

मुझे आशंका हुई कि ऐसे आलिंगन का आनन्द किसी और जगह कभी मिल सकेगा क्या ?

राणा जी कान्ता और मेरे मध्य हुई बातचीत के मूक दर्शक रहे हैं। मुझे उनके मौन से डर लगता था। दूसरे दिन उन्होंने मुझे अपने कमरे में बुलाया और इस तरह कहना शुरू किया:—

"कुमार, अगर तुम जरूर ही जाओगे तो मैं तुम्हें नहीं रोकूंगा। सेन और कान्ता को मैं मना लूंगा। पर मैं तुझे सलाह देता हूं कि तुम हमारे पास कुछ देर और ठहरो। तुम राणा निर्भय सिंह की अंश हो, मैं तुम्हारे बल का कम अनुमान नहीं लगाता। मुझे विश्वास

है कि तुम तलवार से दुनिया में अपनी राह बनाने के लिए इस उम्र में ही योग्य हो। मैं तुम्हें इस समर्थता पर बधाई देता हूं।

"पर मुझे यकीन है कि यहां कुछ साल टिकने में तुम्हारा ही लाभ है। जो कुछ भी हो, तुम अभी अवस्था में छोटे हो। मुझे डर है कि इस उम्र में सहेजी बड़ी जिम्मेवारियां और समय समय पर सिर पड़ती कठिनाइयाँ और फिर उनसे उपजी निराशाएं कहीं तुम्हें वास्तव में ही निराश न कर दें। और तुम दुनिया, मित्रता और प्यार से बिलकुल ही मुँह न फेर लो। तुम्हारी आकांक्षाओं और तुम्हारे सपनों का मुंह मोचने के लिए मैं यह नहीं कह रहा कुमार, बल्कि तेरे सपनों की दाद देता हूं। मैं सौगन्ध खाकर कह सकता हूं कि मुझे तुम्हारे भविष्य के विषय में कोई शंका नहीं।

"शेष रही यहा रहने की बात, इसका जवाब तो तुम्हें कल कान्ता ने ही दे दिया था। तुम्हारे और सेन में कोई अन्तर नहीं, यदि तू स्वयं ही कोई अन्तर न समझे। आधी कठिनाइयाँ तो खाह्मख्वाह् ऐसे ही कुछ न कुछ सोच लेने पर अस्तित्व में आती हैं। भले ही सरदार मान सिंह और मेरे विचारों में अन्तर था और इसी कारण हम कभी एक दूसरे के इतने निकट न आ सके, पर मैंने सदा ही उनका आदर किया है, और करता हूं।

"तुम सोच लो कुमार, मुझे तुम्हारी सोच और समझ पर मान है। तुम्हारे निर्माण में मैंने अपने हिस्से की छाप लगाने के लिए यह अनुरोध नहीं किया, अपितु तेरा निर्माण निश्चित और सन्देह-रहित बनाने के लिए।"

* * *

वर्षों ने मुझे दिखा दिया है कि राणा सवाए सिंह बड़ी सीमा तक सच्चे थे। राणा जी के शब्द मेरी चंचल वृत्तियों पर एक पक्की मोहर थे। और मैं अगले पांच सालों के लिए देव नगर में राणा सवाए सिंह के परिवार में एक था।

# ६

पता नहीं क्यों, अनेक बार हम दूसरों की तरह बनने की सोचते हैं। सब कुछ होते हुए; धन, सुख और सम्मान, दिल करता ही रहता है कि उस मनुष्य की भांति यदि वह गुण भी हमारे में होता ! मुझमें भी यह इच्छा कितनी बार जगी है और मैं चाहता रहा हूं कि सेन जैसा चुप रहने वाला, और फिर भी भावपूर्ण क्यों नहीं बन सकता ? मेरी पसन्द के लिए पृथ्वीसेन बहुत स्वाभिमानी था। पर मैंने उसे प्यार किया। यह भी नहीं कि मैंने सदा उसकी तरह बनना चाहा है। निस्सन्देह, बहुत करके उसका स्थिति का गर्व मुझे डराता रहा है, पर फिर भी आह ! पृथ्वीसेन के व्यक्तित्व का जादू ! हम पांच साल दो सगे भाइयों और अति गहरे मित्रों की तरह रहे हैं और फिर भी जब मैंने उसे पांच साल बाद छोड़ा, मुझे ऐसा लगता था कि फिर मिलने पर वह पृथ्वीसेन वास्तव में ही नया और बे-लिहाज पृथ्वीसेन होगा ! चितरंजन से एकदम उलट।

एक बड़ी कठिनाई यह थी कि सेन को स्वयं ही बुलाना पड़ता था। हजार बार ऐसे अवसर आए, जब उसे पहले बात करनी होती थी,

पर तो भी उसने यह निमन्त्रण कभी नहीं लिया। और यह कुछ होते [illegible]

[illegible]
क्योंकि उसका आचरण मेरे लिए एक [illegible] जिसे मैं आज तक हल नहीं कर सका ! क्या यह स्वभाव प्राकृतिक ही था या जीवन की किसी विपत्ति ने उसे इस जैसा बनने के लिए विवश किया यह उस परम परमेश्वर के अतिरिक्त और कौन जान सकता है ?

* * * *

एक अन्तिम घटना के बिना जिसका वर्णन अब आएगा, देवनगर में बिताए मेरे पांच साल घटना रहित थे। देवनगर जो मुझे बहुत याद आता है, तो इसी घटना के कारण।

और दूसरी ओर अमरावती में बिताए पांच वर्ष कितने ही स्मरणीय अवसरों से भरपूर थे। शायद इसलिए कि सुख में बिताए दिन पीछे जाकर सदा बासी से लगते हैं ! उनमें वह रस और खटमिट्ठापन नहीं होता। वह असफल आशाओं और स्वप्नों की उदासी नहीं होती।

डील-डौल में मैं अब यथार्थ ही युवक था। मेरी मसें फूट आई थी। भवों पर बाल सघन हो गए थे। और बांहों में नए जोर की आन्तरिक सूझ थी।

मैं सुन्दर और चुस्त वस्त्र पहनने का शौकीन था। और, जैसा कि मैंने लोगों को कहते सुना है, राजपूत-सैनिक वर्दी में मैं कमाल का जवान लगता था। और राणा सवाए सिंह के ये शब्द कैसे भूलेंगे, "कुमार, तू तो ऐसे सजा है जैसे किसी सेना का सेनापति।"

मेरे नेज़े और तलवार के हाथों की कीर्ति सेन और राणा सवाए सिंह के होठों से जन्म ले देवनगर के आस पास के गांवों में फैल गई

थी। जब कभी कहीं अखाड़ा या कोई और मुकाबला होता, तब मेरी उपस्थिति आवश्यक गिनी जाती ! कितने युवक, मुझसे उम्र में बड़े, मुझसे तलवार और नेजे के हाथ पूछने आने लगे—कभी कभी मैं महसूस करता था कि मैं इस फैलती कीर्ति के योग्य नहीं। मुझे अपने आप पर विश्वास अवश्य था, पर मेरा यश मेरे आत्म-विश्वास से बड़ी शीघ्रता से बढ़ रहा था ।

उन दिनों में ही अमरावती के एक शहर सरस्वती में एक बड़ा दरबार हुआ। राणा सवाए सिंह ने तो जाना ही था। वह मुझे और सेन को भी लेते गए। वहां अमरावती के शूरवीरों ने और इसके बाद बीस साल से कम आयु के युवकों ने भी अपनी शौर्य-कला का प्रदर्शन किया और अन्त में हरएक दर्शक को निमन्त्रण दिया गया, कि जो चाहे मैदान में आ जाए ।

उस सारे कार्यक्रम में मेरा हृदय आरम्भ से ही धक-धक कर रहा था। मेरा जोर अंगड़ाइयां लेता था। पर मेरा तर्क उसे ठंडा करता आ रहा था।

भले ही मैंने उस समय अपने में विश्वास की कमी महसूस की, तो भी मेरी जवान और मजबूत मेरे तर्कशील मन से रोकी न गईं। मेरे कदमों के आगे भुजाएँ मेरे दिमाग़ की सब युक्तियां निरार्थक हो गईं।

मैं तलवार, नेजा और धनुष बाण ले अखाड़े में उतरा। यहां उस शस्त्र-विद्या और वीरता का लम्बा वर्णन उपयुक्त न होगा।

मैं उन दिनों को बहुत पीछे छोड़ आया हूं। पर हां, कार्यक्रम के अन्त में मेरी प्रशंसा बहुत कुछ इन शब्दों में हुई, "कुमार, मुझे तुमसे यही आशा थी।" सेन ने कहा।

"मेरा विश्वास सच निकला, कुमार" राणा सवाए सिंह ने प्रसन्न मुख कहा।

"शाबाश, कुमार ! तूने कमाल के हाथ दिखाए" महामन्त्री ने सिर पर हाथ फेर कर कहा।

"तू सरदार मानसिंह का पुत्र है, कुमार सिंह ?" महाराज सुन्दर कुल ने प्रशंसा में कहा।

उस समय मेरे रिसते विश्वास की झोली फिर भर गई। मैंने अपने में अथाह बल का अस्तित्व अनुभव किया। मुझे अपने में छिपी किसी अदृश्य शक्ति का आभास हुआ। मुझे पिता जी याद आए और मेरे नयन भर आए।

उस उत्सव के बाद हमें देवनगर लौटे अभी पन्द्रह दिन ही हुए थे कि मुझे शाही सेना में भर्ती होने और विशेष ध्यान रखे जाने का निमन्त्रण आया—पर मैंने इन्कार कर दिया।

उस समय का एक चित्र अभी मेरे पास पडा है। अमरावती के एक चित्रकार ने मेरी प्रशंसा के कारण वह चित्र मुझे भेजा था। उस समय तो मुझे वह अच्छा लगना ही था, अब तक भी वह मुझे प्रसन्न करने के योग्य है। ये पंक्तियां लिखने के समय मैं उसे कागज़ों की तह में से निकाल लाया हूं। यदि मैं उस चित्र का इस तरह वर्णन करूं जैसे वह मैं स्वयं न होऊँ तो मेरी समझ में मैं उस चित्रकार से अधिक इन्साफ कर रहा होऊंगा—दो सुन्दर और भरपूर आंखे सब से पर ऊर्ध्वगामी आकर्षण से खिची चमक रही हैं। रंग गोरा है और नक्श तीखे। होंठ पतले हैं और सटे हुए। मसें पूरी तरह फूटी नहीं हैं। ऐसे लगता है, भविष्य की उमंगों से भरा एक युवक अभी सफल हुआ कि हुआ !

"क्या यह कुमार सिंह ही है?' मैं उनतालीस वर्ष का राणा कुमार सिंह छोटे कुमार से पूछता हूं।

इसके अनन्तर देवनगर में मेरा विद्या प्राप्त करने का घेरा ही फैल गया। मैंने भारत के इतिहास में राजपूत युग पर विशेष

परिश्रम किया। और उस बीत चुके राजपूत-युग के शिखर पर ठंडी आहें भरीं। मुसलमानों और प्राचीन हिन्दू दर्शन पर भी कुछ पुस्तकें पढ़ीं। मुझे अच्छी तरह याद है कि एक शाम जब सूर्य अस्त होने के वक्त मैं घर की छत पर बैठा हरिसिंह की लिखी 'राजपूतों का शिखर' पढ़ रहा था, तो मैं अपने आंसू न रोक सका। हमने अपनी मूर्खता के कारण नीचे से दरारें डाल कर शिखर को शिखर न रहने दिया। मैंने भूगोल विद्या पढ़ी और भारत के आकार-प्रकार का अनुमान लगाया। हमारी छोटे से राजपूत घेरे के आसपास कितना कुछ मौजूद था।

वैसे, जैसा मैं पहले लिख आया हूं, माता कान्ता की नजरों में मुझे पृथ्वीसेन से भी बढ़ कर इज्जत मिली। बच्चे मुझे सेन से कहीं अधिक प्यार करते थे। मुझे लगा कि मैं यथार्थ ही अपने घर में रह रहा हूं। जैसे सवाए सिंह मेरे अपने पिता हों। जैसे कान्ता मेरी अपनी मां और सेन तथा बच्चे मेरे अपने बहिन-भाई।

शुक्र है, हृदय में यह भी आकांक्षा न रही।

*　　　*　　　*

और यह कांड समाप्त करने से पूर्व मैं अमरावती दरबार का शाही निमन्त्रण अस्वीकार करने का कारण बताता जाऊं।

उस समय मैं सत्रह वर्ष का था। जैसे साधारण लोगों का विचार है, मैं अपने आपका ख्याल रखने के योग्य हो गया था। पिता जी के अन्तिम वचन मुझे याद थे। रोज मन में यह निश्चय करता था कि समय आ गया है, मैं विजयपुर जाऊं।

और विजयपुर में सेन और मेरे साथ गुजरी वह घटना। देवनगर अब मेरी आयु के बढ़ने से छोटा छोटा और फीका २ लगने लगा है।

मैंने अपनी आशंकाएं राणा सवाए सिंह को भी बताईं। उन्होंने

प्रेम से मेरी प्रतिक्रिया सुनी और मेरे 'इन्कार' से सहमति प्रकट की। मैं उनके इस 'इन्कार' और सहानुभूति का कितना ऋणी हूं।

मेरी किस्मत मुझे बुला रही थी। भविष्य मेरे सामने था। पिता जी के अन्तिम बचन मुझे उत्साहित करते थे। मेरी मातृभूमि का आकर्षण मुझे खींच रहा था और मैंने फैसला किया कि अगली बाज़ी मैं बिजयपुर में ही मारूंगा, मेरी अगली विजय, बिजयपुर में ही होगी।

# १०

देवनगर में सात आठ महीने रहने के बाद मुझे पता चला कि मैं उस जैसी सादी और कोमल जिन्दगी के योग्य नहीं । राहू ने मेरे मन में सफ़र और घुड़सवारी का बीज बोया था और फिर मेरे अपने एक महीने के सैर-सपाटे के समय वह जी भर कर विकसित हुआ। अभी तक भी मेरे में से सैर का शौक नहीं गया। और देखने और करने की चाह सदा सजीव रही है।

उन परेशानी के दिनों में भी एक पत्र चितरंजन का मुझे मिला। वह पत्र अभी तक भी मेरे पास सम्भाला पड़ा है । प्यार के सन्देश और आशीर्वचन मैं सदा सम्भाल २ कर रखता आया हूं। उदास क्षणों में इन्होंने मुझे साहस और प्रेरणा दी है। उसने लिखा था: —

प्यारे कुमार,

काश ! तुम नीलकंठ पर चढ़ कर अदृश्य हो जाने से पहले मेरी आंखों में देख सकते। यदि तुमने अपने रंजन की वास्तविक हालत का अनुमान लगाया होता तो क्या अपने शब्दों को सत्य करने में इतनी देर लगाते । तुमने कहा था "जितनी जल्दी, जिस किसी

भी तरह मुझसे हुआ, मैं अपने चितरंजन को मिलूँगा।"

"कुमार, जब से तू गया है, अमरावती सुनसान हो गई लगती है। अमरावती के महलों, मकानों पर बिखरा गुलाबी रंग पीला पीला लगता है, मित्रों की मित्रता बेस्वादी है। सब काम भावहीन—। क्यों तुम अपने साथ मेरा सारा सुख और चैन ले गए हो ? क्यों कुमार क्यों......? ......

कल मुझे हरदयाल मिला था। मैंने नाक सिकोड़ कर मुंह एक ओर कर लिया ! जी करता है——।

फिर उसने मैत्री के स्वर में कुछ पंक्तियां हरदयाल और अमरावती के अन्य निवासियों के विषय में लिखी थी। अन्त में लिखा:——

"कुमार, यह वियोग इतना लम्बा होना था, मुझे कदाचित् पता न था। मैं भविष्य के अन्तराल में देखने का आदी नहीं। कुमार, मैं बड़ा उदास हूं, बेचैन हूं, तुझे मिलने के लिए। बता तू कहां है, मैं तुझे आ मिलूँगा—कुमार—

तुम्हारा अपना,
चितरंजन"

पत्र पढ़ते-पढ़ते दो बार मेरे नयन भर आए। चितरंजन के साथ बिताए दिन फिर सजीव हो गए। मैंने पृथ्वीसेन को वह चिट्ठी दिखाई।

"चितरंजन उदास है" उसने चिट्ठी पढ़ कर कहा।

"हां सेन।"

वह मेरा भाव समझ गया, "अमरावती चलें ?"

"यदि हो सके सेन !"

"अच्छा तो कल ही।"

* * *

चितरंजन हमें अमरावती के अश्व-पथ पर ही मिला, उस ऐतिहासिक स्थान के निकट ही, जहां हम पहले पहल मिले थे। कैसा समय था वह, पहला वियोग और पहले वियोग के बाद पहला मिलाप सदा एक कहानी होता है । फिर भी हम कितनी बार बिछुड़ कर मिले हैं, पर उस मिलाप जैसा आकर्षण और प्रसन्नता फिर नहीं मिली। चलती राह पर इतना लम्बा आलिंगन मैंने कभी किसी और से नहीं किया।

हम पन्द्रह दिन अमरावती में रहे। बचपन के दिनों का यह एक सुन्दर पृष्ठ है । चितरंजन, पृथ्वीसेन और कुमार ! अद्वितीय मंडली थी वह !

मैं वहां दिन इस तरह काट रहा था, जैसे लौट कर जाने का ख्याल ही न हो। देवनगर मुझे बहुत दूर लगता था। अन्त में सेन ने एक दिन घर लौटने का संकेत मुझे किया। चितरंजन के पास इसका उल्लेख किया। दोनों ओर से बड़ी खींचतानी हुई। बड़ी देर के बाद यह फैसला हुआ कि अब चितरंजन देवनगर चल कर कुछ दिन काटे । पर यह होनी को बहकाने के समान था। सिवाए एक मित्रता के हम सभी मित्रताओं से अटूट गांठ नहीं गांठ सकते, हमें बिछुड़ना पड़ता है। बहाने बना २ कर हम उस विरह के असह कष्ट को सह्य बनाते हैं। चितरंजन देवनगर आया और एक महीना रहा। सरदार वीर सिंह उन दिनों एक सरकारी काम से उधर आए और उसे अपने साथ वापिस ले गए। उसके पीछे एक साल बाद चितरंजन देवनगर आया और मेरे अठारहवें वर्ष के प्रारम्भ में शाही दरबार पर हम सारे अमरावती गए।

अब चितरंजन का वियोग और मिलाप इतना दुःख भरा न था। इनकी शादी हो चुकी थी।

वाह समय !!!

*    *    *

मुझे देवनगर में चार साल होने को आए, और इन चार सालों में ही मुझे विजयपुर की याद सताती रही, केवल तीस मील दूर विजयपुर का अस्तित्व था और मैं विजयपुर का सुपुत्र परदेश में था! विजयपुर की ओर से आती हवा मुझे बेचैन कर देती थी। लगा तार घन्टों तक एकाकी बैठ कर मन ही मन में मैं विजयपुर के चित्र बनाया करता था। और एक दिन मेरा सन्तोष समाप्त हुआ और मैंने एक चक्कर बिजयपुर का लाने के लिए सेन को राज़ी कर लिया। विजयपुर के मार्ग में घटित हुई एक घटना लिखने के योग्य है—

देवनगर और विजयपुर के बीच ऋषि बन पड़ता था। कुछ रातें हमने उसके सघन झुंडों में काटीं। एक सुवह मैं ज़रा देर से जागा था। पृथ्वीसेन तैयार हो चुका था और मैंने अभी नीलकंठ पर ज़ीन कसी ही थी कि इतने में दाईं ओर एक तीखी चीख सुनाई दी। सेन ने अपने घोड़े पर छलांग लगाई और आवाज के पीछे हो लिया। काफी समय गुज़र गया पर वह लौटा न। मुझे चिन्ता होने लगी और फिर सहसा मैंने वृक्षों के एक झुंड के किनारे पर कुछ हलचल देखी। नीलकंठ को छोड़ कर दबे पांव मैं उधर गया। एक शेर सेन के घोड़े को चटकारे लगाता खा रहा था। मैं कांप उठा।—"सेन——?"

मेरी सोचने की शक्ति जवाब दे गई। मैंने अभी अगले क़दम का फ़ैसला नहीं किया था कि मेरे कानों में एक धीमी आवाज़ पड़ी, जैसे कोई मेरा नाम लेकर पुकार रहा हो। मैंने ग़ोर से सुना। किसी मनुष्य का नहीं, यह नीलकंठ के खुरों को कुरेदने की आवाज़ थी। फिर

वह हिनहिनाया। मेरा ख्याल एकदम शेर की तरफ गया। उसने घोड़े की जांघ में से एक और मरा और एक नजर से मेरी ओर देखा। जैसे अपनी राजधानी में किसी का ऊंचा पुकारना पसन्द न करता हो। मैं नीलकंठ के पास गया। हां नीलकंठ ही मुझे बुला रहा था। उसने मुझे कुछ दूर ले जाकर अपनी बाईं तरफ देखने पर मजबूर किया। पृथ्वीसेन रक्त से लथपथ झाड़ियों में पड़ा था।

'सेन', मेरे देखने और पुकारने में कोई समय न लगा।

"कुमार, चिन्ता की बात नहीं", सेन ने प्रत्यक्ष साहस से कहा। उसके बाएं कन्धे पर शेर के पंजे का निशान था। भले ही घाव गहरे नहीं थे पर लम्बी खरोंच होने के कारण खून बहुत बह रहा था। अपनी पाग का किनारा फाड़ कर उसकी बाह और कन्धे पर बांधते हुए मैंने कहा :

"शेष सब पीछे सेन, पहले शेर के साथ——।"

"नहीं कुमार, नहीं, वह बहुत भयानक शेर है।"

सेन के प्यार में लिपटे हुए मेरे क्रोध का अन्त न था। पहले मैंने तलवार म्यनि से निकाली——पर नहीं एक और ख्याल आया। नीलकंठ की काठी के नीचे से नेजा खींचा। और लतवार म्यान में डाल कर मैं शेर तरफकी बढ़ा। पेट भर कर वह धीरे २ पश्चिम की ओर चलता जा रहा था।

"ठहर जा" मैंने पुकारा, जैसे वह मेरी आवाज समझता हो। पर चाहे वह समझता था या नहीं, वह ठहर जरूर गया। उसने उसने मुड़ कर देखा और फिर मुंह घुमा कर चल पड़ा। मेंने फिर ललकारा पीछे मुड़ते हुए उसने मुझे घूरा। उसने महसूस किया कि मैं भूला हुआ हूं! वह कुछ निश्चय करता हुआ लगा। उसका दिल लड़ने को न करता था। पर अन्त में वह बढ़ा। आखिर शेर था।

लूप्त शेर को एक ही दाव आता है–दुश्मन पर सीधे झपटा मारना। उसने भी वैसे ही किया और दूसरे पल मेरा नेजा उसकी छाती में था। पर ऐसे प्रतीत हुआ जैसे उसे छुआ भी नहीं। उसका सारा भार अकेले हाथ से नेजे पर मैंने तलवार खींची। शेर ज़मीन पर गिर कर फिर उठ रहा था। हमारे में अन्तर मुश्किल से तीन फुट का था। मैंने वार किया, गर्दन बच गई पर पूंछ कट गई। दर्द से वह गरजा। अब उसकी बारी थी। वह झपटा मारने की जगह सूअर की तरह नीचे सिर करके मेरी टांगों पर आया। सिंह इस जैसा हमला कभी नहीं करता, पर गले में अड़े नेजे और कटी पूंछ के साथ वह किसी और तरह हमला न कर सका। उसका वार और मेरा वारा बिल्कुल एक ही समय हुए। मेरे वार से उसकी आधी से अधिक गर्दन काटी गई थी और उसके वार से मैं पछाड़ खाकर पीछे जा गिरा और एक वृक्ष के तने से मेरी पीठ जा टकराई। मैंने सम्हल कर एक और वार किया, वह वार व्यर्थ था। शेर गिर रहा था। मरने से उसने एक नजर मुझ पर डाली। शायद उसकी आंखों में मेरी वीरता की प्रशंसा थी। उस समय मैंने सेन के बदले का ख्याल भूल कर शेर की तरफ एक सच्चे वीर की तरह देखा। उधर सेन की छाती में से नेजा खींचा, अपनी तलवार उठाई और दौड़ कर उसकी ओर गया।

"तुझे इस तरह नहीं करना चाहिए था, कुमार।" उसके जल्दी-जल्दी सांस लेने से मैंने अनुमान लगाया कि उसके घावों ने उसे बहुत कमजोर कर दिया है। मैंने उसे सहारा देकर नीलकंठ के ऊपर बिठाया। भाग्य से हम जल्दी ही एक छोटी सी बस्ती में पहुंच गए।

वह बस्ती विजयपुर की प्रजा थी और वह शिकार भी हमने विजयपुर की सीमा में ही किया था।

जिस दरवाजे के आगे जाकर हम उतरे वह रामजस का घर था। रामजस अधेड़ उम्र का, रोगों से ग्रसित पर उदार-हृदय व्यक्ति था। उसका एक पुत्र उसी आदमखोर शेर, जिसे हमने अभी अभी मारा था, के पंजे से घायल होकर मर चुका था। मेरी बात सुनते ही उसने मेरा स्नेह पूर्वक स्वागत किया।

सात दिनों में सेन के घाव भर गए और वह सवारी के योग्य हो गया। मैं पास के बड़े गाँव से उसके लिए घोड़ा खरीद कर लाया और हमने निश्चय किया कि दूसरे दिन बिजयपुर की सम्बन्ध में राजधानी की ओर चल देंगे।

विजयपुर के सम्वन्ध में रामजस ने हमें काफ़ी कुछ बताया। उन सात दिनों में एक दिन वह मुझे परगने के राणा के पास भी ले गया और उससे मुझे आदमखोर शेर को मारने के उपलक्ष्य में 'शाबाश' का विशेष प्रमाण पत्र दिलवाया! पिछले छः महीनों में उस शेर ने पन्द्रह हत्याएँ की थीं। परगने के राणा ने मुझसे कुछ सवाल पूछे, इस तरह जैसे कि उस पर मेरे व्यक्तित्व का बहुत प्रभाव पड़ा हो।

अब वहां से जाने से पहले मुझे यह बात सूझी कि शायद विजयपुर में हम किसी और मनुष्य के इतना निकट न आ सकें, अतः रामजस से ही सरदार मानसिंह के विषय में क्यों न पूछूं।

एक दिन मैं रामजस से पूछा। मैंने कहा—"आपको यहाँ रहते कितनी देर हो गई है?"

"पचास लम्बे साल इस बस्ती में गुज़ार चुका हूं, कुमार जी, पता नहीं आगे और कितने साल दुःख भोगना लिखा है।"

मैंने दुखों की बात छेड़ कर उससे उस समय सहानुभूति प्रकट करनी उचित न समझी।

"तो रामजस, तूने क्या कभी सरदार मानसिंह का नाम सुना है?"

"कौन सरदार मानसिंह" उसने सोचते हुए कहा।

"वही जो कभी विजयपुर की सेना का सेनापति था।"

"हां, वह ! हां, था तो वह, पर बड़ी देर हो गई है और उसका नाम नहीं सुना···। पर बात क्या है ?" उसने पूछा।

"मैं उसके बारे में कुछ जानना चाहता हूं।"

"क्यों नहीं ! यदि तुम मेरे साथ आओ तो मैं तुम्हें सुबह एक ऐसे पुराने सैनिक के पास ले जाऊंगा जो सब सेनापति और राणाओं को जानता है।"

मेरी उत्कंठा बढ़ गई। रामजस को साथ लेकर हम अगली सुबह एक गांव में पहुंचे। गांव के मध्य कुएं के पास वृक्षों की छाया तले वह सेनापतियों और राणाओं का ज्ञाता बैठा था। रामजस का वह अच्छा परिचित लगता था।

यह युवक सरदार मान सिंह के विषय में कुछ जानने का इच्छुक है। रामजस ने बात चलाई।

"सरदार मान सिंह—-कौन सरदार मान सिंह———?"

अवश्य सरदार मान सिंह एकाधिक होंगे —मैंने सोचा "वही जो विजयपुर की सेना का सेनापति था।" यह सुन कर वह चौंका और गौर से मुझे देखने लगा।

तुम उसके क्या लगते हो, युवक?"

मुझे सहसा भय सा लगा।

"कुछ भी नहीं, ऐसे ही जानना चहता हूं।" और उसने ऐसी नज़रों से मुझे देखा कि जैसे मेरी आंखों की राह मेरे दिल म घुस जाना चाहता हो।

"सेनापति मानसिंह" उसने अपनी सफ़ेद मूंछों को ताव दिया। "सेनापति मानसिंह" उसने ऊंची आवाज़ से कहा। "सेनापति

मानसिंह" उसने एक ठंडी आह भरी। "हाँ, मैं सेनापति मान सिंह" को जानता हूं। मैं उन पहले सौ जवानों में एक था जब उसने कामसर की लड़ाई में विजय पाकर यश कमाया।"

और वृद्ध ने सिर झुका लिया। बाहर की आंखें बन्द करके जैसे मन की आंखें खोल वह कामसर की लड़ाई देख रहा हो। दो एक मिनिट पूर्ण शान्ति रही। वृद्ध ने अंग तक न हिलाया।

"हां, मैं सेनापति मानसिंह को जानता हूं।" बूढ़े ने उसी शोकमय आवाज में कहना शुरू किया, पर फिर रुक गया और कुछ सोचने लगा। और फिर कुछ पल चुप रहने के अनन्तर वह बोला "अब तू क्या पूछना चाहता है?" राणा निर्भय सिंह मर चुका है, सरदार मान सिंह जा चुका है, और अब फिर तू किस लिए मान सिंह के विषय मे बातें कर रहा है—रामजस लेजा इनको ———"

और वृद्ध स्वयं उठ कर एक ओर चला गया।

अब बूढ़े की प्रतीक्षा करने का कोई लाभ नहीं, मैं उसे जानता हूं कुमार।" राम जस ने कहा।

हम वापिस आ गए। शाम तक मैंने सेन से कोई बात न की। उसने भी मुझे हौसला न दिया, बड़ा बुरा था इस बात में मुझे पिता जी याद आए, कोई भेद अवश्य था। विजयपुर के विषय में उनके शब्द याद आए और मातृ भूमि के लिए मेरा प्यार जागा।

जब से मुझे ज्ञात हुआ था कि मैं विजयपुर की राजधानी में हूं, मैं कुछ कुछ और ही महसूस करता रहा था। मैंने अपने आपको एक ऐसे वातावरण में सांस लेते महसूस किया, जिसके हर वृक्ष की पत्तियों में कोई मरहम हो। विजयपुर की जमीन मुझे अनोखी लगती थी। उसकी घास बहुत हरी थी। उसकी फ़सलें बहुत पकी हुई, उसकी हवा बहुत ठंडी और उसके वृक्षों की छाया अत्यन्त सघन थी। विजयपुर

की धरती पर नीलकंठ के खुर भले ही धीरे पड़ते थे, पर आवाज़ बहुत करते थे।

क्यों ? क्योंकि वहां स्वर्गवासी राणा निर्भय सिंह की समाधि हैं, क्योंकि वहां······क्योंकि वह मातृ भूमि थी।

पर वह मातृ भूमि······मुझे स्मृतियों ने झकझोरा। मैंने घोड़े की लगाम खींची।

"बस मैं आगे नहीं जा सकता, सेन, मैं एक बार उस बूढ़े के पास जरूर जाऊंगा।"

सेन, सेन इतना हत्यारा था। उसने घोड़े की लगाम खींची और उसका मुंह पीछे की ओर करके कहा 'चल'।

एक बार भी उसने मुझे वर्जित न किया। एक बार भी उसने न कहा, "बूढ़े के पास जाने का कोई लाभ नहीं।" किन्तु दिल में मुझे उस बूढ़े के जाने हुए डर लगता था। मैं घबरा सा गया।

राणा निर्भय सिंह, सेनापति मानसिंह, जैसलमेर, माता चन्द्रिका, बहिन संयुक्त, राहू और वह जो पिता जी से अन्याय करने पर उतरा ······मैं रूक गया, "नहीं, सेन ! मैं वहां नहीं जा सकता।"

'तेरी मर्ज़ी' सेन ने उत्तर दिया और घोड़ा फिर मोड़ लिया। और अन्त में एक साल बाद जब मैं उस वृद्ध से मिलने के लिए पहुंचा तो वह मर चुका था। वह बूढ़ा—!

× × × ×

हम विजय नगर पहुंचे। महाराज जयसिंह के दर्शन भी हुए। वहां की चहल-पहल भी, देखी, पर फिर किसी से पिता जी के बारे में पूछने का साहस न कर सका। मन में ख्याल था कि पहले विजयपुर को अच्छी तरह जान लूं, फिर पिता जी के बारे में पूछूंगा। अभी मैं अपने को इतना अपरिचित समझता था। मैं खोया रहा।

सत्रह दिन बीतने को आए ! सेन यात्रा की थकावट से व्याकुल दिखाइ दिया। मेरे लिए भी मातृ भूमि की हवा भारी प्रतीत हुई। शायद इस कारण कि मैं बचपन से इसमें सांस नहीं लेता रहा। पर मुझे यह भी विश्वास हो गया कि मुझे हवा विजय पुर की ही ठीक बैठेगी।

"यहां मेरी माता चन्द्रिका का संस्कार हुआ था यहां कहीं पिता शायद संयुक्ता भरपूर जवानी में क़दम रख चुकी होगी। यहाँ पिता जी, राणा मानसिंह, सेनापति थे ! यहाँ··· और यहां मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया, "यहां राणा कुमार सिंह भी कुछ करके दिखाएगा !"

# ११

अब देवनगर में घटित हुई उस घटना के विषय में, जो कभी मुझे दुःख का अन्तिम अक्षर लगती थी......। भले ही अब समय ने उसकी बाड़ी चुन ली है, पर होठों को छूती कभी-कभी एक आह् उन कसकों की याद दिलाती है।

मोहन पृथ्वीसेन का मित्र था। उसका पिता देवनगर के परगने में नौकर था। इतना समृद्ध तो नहीं, पर गुज़ारा अच्छा था। वह सूर्यवंशी राजपूतों के वंश में था और इस पर वह बहुत मान करता था। स्वभाव का कड़ुवा और उसूल का पक्का।

.मोहन की बहिन थी रोहिणी। मोहन और पृथ्वीसेन से उम्र में छोटी और मेरी हम-उम्र। वह सुन्दर थी, पढ़ी-लिखी और मधुर भाषिणी। वह कद में मुझ से छोटी थी, पर समझ में नहीं। उसका चेहरा गोल था और सारे कटाव उपयुक्त और तीक्ष्ण। उसके हाथ उसके और सब अंगों से बढ़ कर सुन्दर थे। पतली २ लम्बी उंगलियां तनिक लाल-लाल नाखून, पतली गांठे और साफ, नाजुक कलाई।

रोहिणी से मेरी भेंट हुई। हम उनके घर मिले, अपने घर मिले, बाहर मिले। तब मैं अपना सत्रहवां वर्ष समाप्त करने को था।

शायद अब तक यह समझ लिया गया होगा कि मेरा यह बताने का भाव यही है कि अन्त में हमारा प्यार हो गया। हां ठीक, मेरा और रोहिणी का प्यार हो गया, पर प्यार केवल भावकता नहीं, अपितु परस्पर आदर और समान मित्रता से पैदा हुआ। दबाए जाने के डर से यह अपने यौवन में आया।

प्यार बुलबुला है, एक अदृश्य भाव, न दीखने वाली लहरों का एक वेग। यह कोई तत्व नहीं, न ही कोई ठोस पदार्थ है। यह पकड़ा नही जाता, विचारा नहीं जाता, तोला नहीं जाता। मैंने अपने जीवन में बहुत प्यार किया है। मैं सौभाग्शाली हूं, मुझे बहुत प्यार मिला है। किन्तु हर बार जब प्यार ने तीण वेग से मेरे मन और मस्तिष्क पर अधिकार किया है, मेरे लिए इसे समझना और भी कठिन हो गया है। मैंने कितने अनुमान किए और बदले हैं। पर इसके विषय में पूर्ण ज्ञान की अन्तिम सीढ़ी तक न मैं चढ़ सका हूं, न कोई चढ़ सकेगा।

हां, मेरा और रोहिणी का परस्पर-प्रेम हो गया। पर इससे पहले या ऐसे, कि इस प्रेम का ज्ञान होने से पहले ही बहुत कुछ हुआ।

* * *

रोहिणी के मन को, जहां तक मैंने खोज कर देखा, मेरी वीरता बहुत प्रभावित करती थी। उसके पास मेरी सुडौल बाँहो की, मजबूत हाथों की, सुन्दर शस्त्रों की प्रशंसा के लिए सदा चार अक्षर हुआ करते थे।

हमारी पहली बातचीत भी ऐसे ही हुई। मैंने और सेन ने शिकार

के लिए जाने का निश्चय किया । मोहन ने स्वीकृति दी । और उस समय रोहिणी भी पास खड़ी थी । उसके मन में इच्छा जागी । उसने कहा, मैं भी जाऊंगी । मैंने कहा, "क्यों नहीं ।"

सेन ने कुछ न कहा ।

मोहन ने अपनी बहिन की ओर भावपूर्ण दृष्टि से देखा । उनके पिता घर नहीं थे । पहले तो उसने 'न' कर दी और कहा, "नहीं, रोहिणी ! तू कहां जायगी ।"

"ज़रूर भैया, मिन्नत से" उसने प्रभावपूर्ण ढंग में कहा ।

यह रोहिणी की बातचीत का कीमती कटाक्ष था । ऐसे भोलेपन से, स्नेहपूर्वक वह मिन्नत करती कि सुनने वाला द्रवित हो जाता ।

मुझे अभी तक उसने कभी 'मिन्नत से' नहीं कहा था, न ही मेरे से कभी उसे कुछ मांगने की आवश्यकता ही हुई थी । किन्तु मेरे दिल में यह इच्छा ज़रूर थी कि किसी दिन वह मिन्नत करे, चाहे किसी चीज के लिए, बेशक मेरे सारे आपे के लिए ही ।

पौ फूटने के समय हम चारों चल पड़े । दो पहर का भोजन हम साथ ले चले थे और वह रोहिणी की 'खुर्जी' में था ।

सेन के पास एक नए ढंग की बन्दूक थी । उनमें से एक जो, मुसलमान पहले पहल भारत में लाए थे । गुजरे जमाने में, जब जैसलमेर, और विजयपुर और अन्य राजधानियों की सेनाओं ने मुसलमानों को एक बार भगा दिया था, तब उनके बहुत से हथियार और गोला-बारूद उनके और फिर राजपूतों ने उनको अपनी बन्दूकों से अच्छी समझ कर उनकी नकल उतारी ।

देवनगर से परगने का आखेट-स्थल कोई बारह मील दूर था । जब हम वहां पहुचे, धूप निकल आई थी । वट के तले हम उतरे और कुछ आराम किया । अभी हम बातें ही कर रहे थे कि हरिणों

के दो युगल हमारे पास से निकले । रोहिणी का ध्यान सबसे पहले उधर गया और उसने पुकारा—"वह हरिण !"

मैं दूसरा था जो अपना धनुष-बाण उठाता नीलकंठ की ओर बढ़ा । पर सेन मुझसे जल्द बाज़ निकला । उसने दो बार बन्दूक चलाई, पर हरिण अलग २ जोड़ियों में बंटे चौकड़ियों भरते भागते गए । जोड़ियां अलग अलग हो गई । सेन दाईं ओर ओझल हो रही जोड़ी के पीछे लपका । मैंने बाईं ओर गई जोड़ी के पीछे नीलकंठ को लगाया । करीब सौ गज जाकर मुझे ज्ञात हुआ कि रोहिणी मेरे पीछे आ रही थी ।

सहसा हरिणों ने अपनी गति धीमी कर ली । मैंने भी घोड़े की लगाम खींची और इतने में रोहिणी मेरे निकट आ गई । शायद एक पल के लिए हरिण उसकी नज़रों से ओझला हो गए हों ।

उसने पूछा—"किधर गए हरिण ?"

"कहीं नहीं जाएंगे रोहिणी !" मैंने मुस्करा कर कहा ।

मैंने घोड़ा ज़रा तेज करके वृक्षों की ओट में जा खड़ा किया । रोहिणी एकदम मेरे पीछे थी मैंने बांण चिल्ले पर चढ़ाया । हिरणों की जोड़ी कोई डेढ़ सौ गज़ पर सामने थी । बाण छोड़ने से पहले मैंने आंख की कोर में से रोहिणी की ओर देखा; वह स्तंभित मुझे निहार रही थी ।

तीर चितकबरे हरिण की जंघा में लगा और वह गिर पड़ा । मैंने रोहिणी की ओर देखा । वह प्रशंसक दृष्टि से मुस्करा रही थी ।

दूसरा हरिण ज़रा दूर जा चुका था । मैंने नीलकंठ को फिर बाईं ओर दौड़ाया और पचास-साठ गज चल कर दूसरा तीर चलाया वह भी खाली न गया ।

"सेन नें तो गोलियां चलाईं—।" रोहिणी मेरे पास आकर बोली । मैं अपने गर्व के कारण चुप था । उसने कहा—

"मुझे अपना धनुप-बाण दिखाओ न।"

"नहीं" मैंने कहा।

"मिन्नत से" वह बोली।

और मुझे आज पहली बार उसके मुंह से 'मिन्नतायें' सुन कर इतनी खुशी हुई कि एक पल के लिए मैं सब कुछ भूल गया।

"मिन्नत से, कुमार जी" उसने फिर प्रार्थना की।

"नहीं भई, यदि इसे लड़कियों का हाथ लग गया, तो इसका निशाना चूक जायगा ! आए हैं बड़े कर्ण !"

"अच्छा तो न सही कर्ण ! आपके देखे बिना कौन इसमें से तीर नहीं निकलना।"

"जरूर दिखाओ न, मिन्नत से। मैं तो झूठमूठ ही कह रही थी।" रोहिणी ने निरन्तर कितनी बार मिन्नत की।

उस क्षण से हमारी एक दूसरे के लिए प्रशंसा बढ़ने लगी; आदर उपजने लगा और यहां तक कि मेरे ख्याल में रोहिणी जैसी सुन्दर और अच्छी लड़की न कोई हुई थी, न होगी। और उसके लिए कुमार दूसरा कर्ण था। इस तरह मेरे पहले प्यार की मंजिल शुरू हुई।

*　　*　　*

हम एक दूसरे के लिए महसूस करने लग पड़े। वे दिन बड़े चाव भरे थे और रातें बड़ी विह्वल। कई एकान्त भेंटों ने हमें पागल कर दिया।

पर एक दिन, यह मेरे देवनगर छोड़ने के दो महीने पहले की बात है, सेन ने मुझे अलग ले जाकर कहा—

"कुमार !"

चुप हुआ मैं उसके गम्भीर मुख की ओर देखता (हा)

"रोहिणी और तुम सदा के लिए नहीं मिल सकते ।"

हां, सेन जानता था कि हम एक दूसरे को प्यार करते हैं । हमारी प्रनि हमारा एकाकी रहस्य न रही थी ।

"क्यो ?" मैंने पूछा ।

"रोहिकी का पिता सूर्यवंशी राजपूत है, वह अपने वंश से बाहर कभी रिश्ता न करेगा ।"

उसके बाद मुझे बहुत कुछ सोचनना पड़ा । पर पहली चिन्ता जो मुझे यह सुन कर हुई, उस पर अवश्य जवानी के रंग की माया चढ़ी हुई थी ।

# १२

जीवन ने मुझे काले बादलों के अन्धकार में से कौंधती बिजली की किरणें चुनने की आदत डाल दी है। उन बीती घटनाओं के लिए जिन्होंने मुझे ठोकरों से चूर-चूर कर दिया, आज आंसू बहाता हुआ मैं वर्तमान को धुंधला नहीं करता। हल्की सी आह भर कर, या नयनों की कोर को अश्रुओं से गीला करके मैं कहता हूं "अच्छा जो कुछ हुआ, सों हुआ.........!"

यदि यह कांड लिखने के समय, मैं ज्योति के अथाह प्यार को आलिंगन करके कह देता हूं, "रोहिणी न मिली, चलो, अच्छा हुआ, अन्यथा ज्योति कैसे मिलती !" पर में कृतघ्न नहीं। मैं अपने भावों का दमन भी नहीं करता हूं। यह परखा हुआ ग्रम है, भुलाया हुआ नहीं......।

मैंने पृथ्वीसेन की कही हुई बात पर सोचा और अन्त में मुझे भी रोहिनी से मिलाप असम्भव लगने लगा।

"रोहिणी" मैंने एक शाम उसे अलग ले जाकर कहा।

"कुमार जी" उसकी नजरों में निश्छल प्यार था।

"रोहिणी" मुझे उस पर तरस आया। ऐसी भोली और कोमल आत्मा को मैं कैसी हृदय-बेधक बात सुनाने लगा था। मैं चुप कर गया, पर मन में उठती ये आशकाएं रोहिणी ने मेरे बुरे बने चेहरे पर से पढ़ लीं।

"चुप क्यों कर गए ?" उसने जल्दी से पूछा।

"ऐसे ही रोहिणी।"

क्या बात है कुमार जी——?" रोहिणी का मेरे लिए इतना प्यार ही मेरे होठों पर मुहर लगा रहा था।

"रोहिणी" मैं फिर कहता-कहता रुक गया।

"कुमार जी" उसने मेरी पीठ पर हाथ रखा और उसकी आंखों से वह हैरानी बहती नजर आई कि मैं गबरा गया। पर कितनी देर इन्तज़ार करता ? मैं उस शाम प्रण करके आया था कि ज़रूर रोहिणी के आगे भेद खोल दूंगा।

"रोहिणी" मैंने उसे अपने निकट खींचा और उसके कन्धे पर हाथ रख कर कहा "रोहिणी, रोहिणी, हमारे प्रेम-मिलाप कि समाप्त होने ही उचित हैं।"

रोहिणी जी चौक कर एकदम पीछे हट गई।

बेचारी रोहिणी ! भोली रोहिणी।

(मैंने तुम्हारे दिल को ठेस पहुंचाई थी, रोहिणी। मैं तुमसे क्षमा का याचक हूं।)

"हां रोहिणी !"

मेरे दोबारा वे शब्द कहने पर उसका रहा-सहा सन्देह भी मिट गया ! उसके चेहरे पर घबराहट थी, उसकी आंखों में एक भयानक शून्यता। मैंने पुरुष के सहास से न्याय करने का प्रयत्न किया।

"रोहिणी हम सदा के लिए नहीं मिल सकते। तुम्हारे पिता

सूर्यवंशी राजपूत हैं, तुझे मेरे अंग लगाने की आज्ञा वह कभी नहीं देंगे।

मैं उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा। एक बार रोहिणी के चेहरे के उतार–चढ़ाव से मुझे लगा कि वह अभी मेरे डरों और अपने पिता के वंश की धज्जियां उड़ाने लगी है। जैसे वह अपने स्त्री–बल से सब बाधाओं को ढेरी करने पर तुल गत है! पर अगले ही क्षग उसके चेहरे से वे भाव मिट गए। वह अ'त कोमल भावों वाली लड़की थी। वह उदास हो गई और उसने कुछ न कहा———।

"रोहिणी, मैं अपनी स्थिति साफ़ करने के लिए कहता गया रोहिणी! काश तुम मेरे हृदय में घुस कर देखती कि कितने दु:ख से मैंने तुम्हें वे शब्द कहे हैं।

"रोहिणी, प्यारी रोहिणी! मुझ पर विश्वास करो रोहिणी। मेरे प्यार पर विश्वास करो रोहिणी तुम्हारे बिना मेरा जीवन न जाने कैसे गुजरे। तुम नहीं जानती रोहिणी! रोहिणी!! रोहिणी!!! मैं उसका नाम ले लेकर उसे पुकारते जाना चाहता था। उसका नाम उस समय मुझे धैर्य प्रदान करता था।

किन्तु रोहिणी ने कोई उत्तर न दिया। एक बार भी उसने मुझे कुमार जी कह कर न बुलाया। कितनी देर वह निर्जीव हुई मेरे साथ लगी रही। अन्त में उसने एक लम्बी सांस ली। मुझे सहसा महसूस हुआ कि वह जीवित है। पर दूसरे क्षण ही उसने अपने आपको मेरी भुजाओं में से खींच लिया।

"अच्छा, कुमार जी।" उसने कहा और मेरी ओर से मुह मोड़ लिया। आवाज से साफ प्रकट था कि रोहिणी रो रही है।

रोहिणी चल पड़ो!

रोहिणी चली गई!

मैंने एक बार भी उसे न कहा, "ठहर रोहिणी"। मैंने एक बार भी उसे आवाज न दी, 'कहा चली हो ?"

मैं मेरा एक पग भी उसके पीछे न उठा कि मैं उसे पकड़ लूं। और भले ही मेरी देह का रोम-रोम उस समय रोहणी के पीछे उठ भागने को उतावला था। भले ही मेरे अधरों में "रोहिणी, रोहिणी" को कूक निरन्तर हो रही थी, पर रोहिणी चली गई और मैं उसे ठहराने के लिए एक शब्द भी न कह सका।

* * * *

रोहिणी ने तो फिर कभी मुझे मिलने के लिए जल्दी कहां आना था, मैं आप भी इस घटना के बोझ से तीन दिन हिल न सका। मैं उदास हो गया। मेरा चेंहरा मुरझा गया। सभी को ऐसे लगा जैसे मैं बीमार होऊं।

"क्या बात है पुत्र कुमार ?" माता कान्ता ने पूछा।

"कुमार, ढीले-ढीले क्यों रहते हो ?" राणा सवाए सिंह का कथन था।

"बीर जी, आप बोलते क्यों नहीं ?" बच्चों ने हट किया।

केवल सेन ही ने कुछ न कहा। अपितु उसका अपना मुंह भी बहुत कुम्लला गया। जब कभी मैं उसे सोते हुए भी देख पाता, उसके मुंह पर एक उदास प्रभाव अंकित होता। न जाने क्यों मुझे अपने और रोहिणी के दुःख से सेन की उदासी भी बड़ा पीड़ित करती थी।

मैंने रोहिणी को व्याकुल किया है, मैंने उसके प्यार को ठुकराया है, मैंने अपनी दृष्टि में स्वयं अपराधी सिद्ध होता हूं। पर आह ! रोहिणी ने मुझे अपने आपको निश्चिन्त करने का कभी अवसर न दिया।

"नारी ! क्या तू अपने प्यार के आगे इतना सा ऊंचा बोल भी नहीं सहार सकती ?"

रोहिणी को बुखार हो गया। हकीम ने बताया कि भले ही चिन्ता की कोई बात नहीं, पर रोहिणी को पूर्ण आराम की आवश्यकता है। और रोहिणी पूरा आराम करती रही। मैं तीन चार बार उनके घर गया। रोहिणी को भी मिला, पर उसने मुझे कोई हौसला न दिया। मुझे लगा जैसे वह कह रही हो "अब आपके आने की—कोई आवश्यकता नहीं।" वह बहुत बेसुध हो गई। हकीम कितनी देर तक उनके घर ही बैठा रहता।

"तूने ही वे असह्य शब्द कह कर रोहिणी को ठेस पहुंचाई है, तू द्रोही है ! तुझे...।" एक कुमार सिंह दूसरे कुमार सिंह को कह रहा था।

पर फिर रोहिणी थोड़ी देर में ही राजी हो गई, भले ही उसका कुम्हलाया चेहरा फिर न चमका ! उसके नयनों में वह पहले जैसी प्रसन्नता की झलक न रही। मुझे या किसी और को तो उसने 'मिन्नत से' कहां करता था ? मोहन से भी उसने कभी 'मिन्नत से' न कहा। मुझे वह अवश्य कहीं न कहीं मिलती रही। पर मेरे अधिक प्रयत्न करने पर भी वह मेरे निकट न आई।

नारी ! तुम्हारे राज्य में न्याय का पूरा तोल नहीं, भले ही तेरे भावों की अत्युच्च तीव्रता तेरे साथ लिहाज़ करने को मजबूर कर देती है।

*　　　　*　　　　*

महीना बीत गया, और रोहिणी के पिता की तब्दीली हो गई। उसे गढ़-मन्दिर के परगने में अपना काम सम्हालने की आज्ञा मिली।

और मैंने सोचा, "क्या रोहिणी मुझे बिना मिले ही चली जायगी"?

उनके जाने में तीन दिन शेष थे, पर फिर भी वह मुझे एकान्त में न मिल सकी। "रोहिणी, एक आध घंटे के लिए क्या मुझे मिल न सकोगी ? मैंने एक बहुत ज़रूरी बात कहनी है—रोहिणी...एक बार।" पर वह ठंडी आह भर कर रहती। और कल उन्होंने जाना था। उस शाम मुझे रोहिणी का सन्देश मिला।

मेरे जी में आया—नहीं ! नहीं जाऊंगा मैं ! रोहिणी भी मेरी प्रतीक्षा करे, वह भी महसूस करके देखे कि इतने दिन मैंने कितनी पीड़ा सही है।

पर जैसे २ सूर्य का गोला पश्चिम में नीचा होता गया, पूर्व की ओर से एक लजीला विचार मेरे मन पर कब्जा करता गया। क्या यह अन्तिम मिलाप होगा ? रोहणी कल चली जायगी ! फिर रोहिणी और कुमार क्या कभी न मिल सकेंगे ? उस रात रोहिणी को न मिलना एक सदा के लिए पश्चात्ताप रहेगा !

रोहिणी और मैं मिले !

उस स्थान पर जहाँ हमने प्रणय-क्रिड़ा की, जहां अनेक बार रोहिणी मेरी बाँहों में पड़ी रह चुकी थी "भिन्नत से" ! वहां जहाँ हमारे प्रेम की सुगन्धि वातावरण में मिल कर उसे सुगन्धित बना गई थी। उन्हीं वृक्षों के तले, उन्हीं पौधों के पास, उन्हीं फूलों की गोद में मैं और रोहिणी मिले ! हां एक रोहिणी और एक कुमार मिले। पर वह रोहिणी और वह कुमार नहीं, जो पहले मिलते रहे थे। न उसने 'भिन्नत से' कहा। न वह प्यार में सिकुड़ती २ मेरे पास आई।

"कुमार जी · " जब मैं वहां पहुंचा, वह मेरी प्रतीक्षा कर रही थी।

"रोहिणी," मैं उसके निकट गया।

"हम कल जा रहे हैं।"

"हाँ रोहिणी" और मेरी आँखें भर आई। और रोहिणी को और क्या चाहिए था, वह भी रो पड़ी। मैंने उसे हल्के से स्पर्श से अपने निकट किया। वह बिना झिझक मेरे पास आई। और हम कितनी देर रोते रहे। सारे अतीत और भविष्य को आंसूओं में बहाने का व्यर्थ प्रयत्न करते रहे। भला कहीं ठोस भूत भी आंसूओं में से घिसा है? या कभी सूक्ष्म भविष्य अश्रुओं के वेग से बह गया है?

"भूलना मत" रोहिणी के अन्तिम शब्द थे।

आह! क्या लालसा है यह, सदा प्यार किए जाने की यह लालसा कि हमें हमारा प्रेमी भूले न?

और फिर रोहिणी चली गई। पर इस बार मेरे जीवन में अपने प्यार का चन्द्र फिर कभी भी न चमकाने के लिए।

रोहिणी चली गई।

कुमार रह गया।

मन ने कहा—'अब कुमार भी यहां न रहेगा!" मैं खुली आँखों सपने देखने लगा। रोहिणी चली गई, रोहिणी चली गई। जैसलमेर, राहू, अमरावती, चितरंजन, देवनगर, सेन और रोहिणी और अब मेरे सामने था विजयपुर।.....

किसी ने पीछे से मेरे कन्धे पर हाथ रखा। यह पृथ्वीसेन था।

'सेन' रोहिणी गई' मैंने थर्राती आवज में कहा।

"हां, उसने जाना ही था कुमार। कई प्यार इस तरह अधूरे ही रह जाते हैं।"—

कई बार बाद में मैंने इस घटना के विषय में सोचा है और मुझे सदा सेन के दिल में रोहिणी के लिए अथाह प्यार बहता नजर आया

है। मैं नहीं कह सकता कि सेन रोहिणी से प्यार करता था...? पर रोहिणी शायद यह कुछ नहीं जानती थी और शायद सेन के मौन और उसके अनोखे उदासीन आचरण का यही कारण था।

इस तरह साथी, मेरे जीवन की पहली प्यार कहानी समाप्त हुई।

रोहिणी ने......

रोहिणी ने जाते हुए शब्दों के रूप में मुझे निशानी दी थी और मैंने उसे आज तक अपने सीने के साथ लगाए रखा है। बिछड़ते समय उसने कहा था 'भूलना न' और मैंने उसे भुलाया नहीं।

# १३

रोहिणी चली गई !

अभी उसे गए एक सप्ताह भी नहीं हुआ था कि नीलकंठ सदा के लिए मुझे छोड़ गया ।

नीलकंठ !

पिता जी और जैसलमेर को अन्तिम प्रणाम कहने के बाद नीलकंठ ने ही मेरा साथ सदैव दिया था, नीलकंठ के पास मुझे हर दुःख से अलोप करने के लिए प्यार और हौसले का सन्देश था ।

बीते उनतालीस वर्षों में से मुझे बड़ा कुछ भूल चुका है । पर नहीं भूल सके, नहीं भूल सके वे पल, जब नीलकंठ और मैं किसी दैवी समझौते में एक दूसरे को प्यार करते रहे । नीलकंठ रोज़–रोज़ नए रूप धारण करके मेरे सामने आता रहा है । भला कैसे भुलाया जा सकता है पिता जी की बीमारी और उनकी मृत्यु के समय नीलकंठ का दुःख, और फिर अमरावती में हमारे नयें सहयोग और मैत्री के पहले कुछ महीने । वह, जब हरदयाल ने उसे बेंत मारे और मैं उसके गले लग कर रोया और फिर वह समय जब मेरी जैसलमेर की वापसी

के समय नीलकंठ ने पुराने घर को अन्दर बाहर अच्छी तरह देखने का हठ किया..... । मेरे अति प्यारे नीलकंठ, प्रभु तुम्हरारी आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

एक निगोड़ी पीड़ा ने नीलकंठ को मुझ से अलग किया, और उस समय जब मैं घर से बाहर था। मेरे लौटने तक, दो घंटे बीमार रह, नीलकंठ सदा के लिए जा चुका था।

वह नीलकंठ...। दस वर्षों की लम्बी सांस २ की मित्रता, और अन्तिम समय मैं तेरे साथ चार बातें भी न कर सका। नीलकंठ, तूने किन आकांक्षाओं को सीने में दबाए प्राण त्यागे होंगे ! तुम्हारे नयन किस तरह खोए-खोए से चारों ओर देखते रहे होंगे, कुमार, अपने कुमार को ढूँढने के लिए......

मुझे याद आता है आज उसकी मृत्यु का दिन, कि किस तरह मैं उसकी बड़ी देह पर गिर कर सुबक-सुबक कर रोया ।...नीलकंठ की मौत ने पिता जी और जैसलमेर की याद एक झटके में ताजा कर दी और मैं वास्तव में उदास हो गया।......

आह ! ये पंक्तियाँ लिखते-लिखते मेरे नयन फिर डबडबा आए हैं। न जाने ज्योति को किस आन्तरिक ज्ञान से मेरी उदासी और अश्रुओं का पता लग जाता है हो सके तो वह झट मेरे पास आ जाती है। अभी २ वह मेरे पास आई है, और यह पृष्ठ पढ़ कर उसकी भी आंखें भर आई हैं। यही मेरे लिए उसकी सबसे बड़ी सहानुभूति है।

अच्छा ! प्यारे नीलकंठ, शुभकामनाएं, शुभविदा। तेरे और तेरी याद पर न्योच्छावर करने के लिए मेरे पास सदा चार आहें, चार आंसू होंगे।

नीलकंठ की स्मृति में मैंने तब यह फैसला किया कि आगे से पहले प्रत्येक घोड़े का नाम नीलकंठ ही रखूंगा और उसी तरह

कर रहा हूं।

❋ ❋ ❋

रोहिणी गई ! नीलकंठ गया !

और उधर विजयपुर मुझे बुला रहा था। मैं अब अठारह वर्ष का हो चुका था, और अपनी चाल ढाल से जैसे कि मुझे कइयों के अनुमान ने बताया है, मैं इक्कीस-बाईस साल का लगता था। मैंने सोचा कि अब वह समय है कि मैं अपने बाहुबल से अपना भविष्य बनाऊं।

"मैं अब जाना चाहता हूं, सेन।" मैंने बात शुरू की।

"कहां ?"

"विजयपुर।"

"अपनी किस्मत बनाने के लिए ?"

"हां, अपनी किस्मत बनाने के लिए।"

"मेरी शुभकामनाएं तुम्हारे साथ है" सेन ने दांत पीस कर कहा, और उठ कर चला गया।

चुप सेन—एक पहेली था। क्या उसे मेरे जाने का इतना दुःख हुआ था ?

राणा सवाए सिंह भी बड़े दयालु निकले। मैंने उन्हें एक रात कहा, "राणा जी, क्या आप समझते हैं कि मेरे यहाँ से जाने का समय आ गया है ?"

राणा जी ने प्रश्न सुना, सोचा, और एक ओर देखने लगे। मैं कुछ पल ठहर कर कहता गया—

"राणा जी, मैं समझता हूं कि मुझे अब घर का सुख आराम छोड़े ही बनता है। और देवनगर में मेरे करने के लिए कुछ है ही नहीं।

सोचते-सोचते उन्होंने उत्तर दिया, 'तो अब विजयपुर जाओगे ?'

"जी !"

उन्होंने मेरी ओर देखा। उनकी दृष्टि में मेरे लिए आदर था। उन्हें मुझ पर विश्वास था। मैं बलवान् हो गया था। राणा सवाए सिंह की उन नज़रों से मैंने अपने आपको बहुत भरा २ अनुभव किया और अभी तक करता हूं।

"कुमार ! तुम्हारे जाने से मुझे दुःख अवश्य होगा। पांच साल से मैंने तुम्हें अपने बच्चों की तरह पाला है, पर मैं अपने वात्सल्य मोह में तुम्हारे भविष्य को भूल नहीं सकता मैं तुम्हारे वियोग की पीड़ा सह लूंगा, पर इस समय तेरे मार्ग में नहीं खड़ा होऊंगा। और मुझे याद है कि पाँच साल पहले मैंने तुम्हें रोका था। पर उस समय मेरे पास कारणों की भरी मूठ भी थी।

"और तू जानता है कुमार, मैं तुझे सदा शाबाश और हौसला देता आया हूं। मैंने तुम्हारी अनुचित प्रशंसा नहीं की। तू मुझसे यह जीतता रहा है। मुझसे ही नहीं, सारी अमरावती मेरे साथ तुम्हारी प्रशंसा में भाग लेती रही

"तू जा कुमार ! और अपना भविश्य बना। यह बहुत आशाओं से भरा है। जहां पांच साल पहले मैं यही कहता था.....।" वह ठहर गए और मेरी ओर बाहें उछाल कर बोले, "मेरे पास आ मेरे बच्चे"। मैं उनके पास जा बैठा, और उन्होंने मुझे अपने आलिंगन मे ले लिया।

जहां पांच साल पहले मैं यह कहता था कि तू सरदार मानसिंह का नाम रौशन करेगा, वहां अब मैं यह भी कहने का अधिकार रखता हूं, कि तू मुझे और मेरे प्यार को भी अमर करेगा।

और उन्होंने मुझे जकड़ लिया।

मैं पूर्ण आभारी था। मेरे नयन भर आए। यह उनका प्रथम और अन्तिम आलिंगन था।

"तुमसे आयु में बड़ा होने के कारण मैं तुम्हें एक दो बातें कहने की आजादी लूंगा।" वह कहते गए, "गिला न करना कुमार, तू राजपूत है। राजपूती आन और मान को कभी धब्बा न लगा देना। आज की राजपूत जाति वह राजपूत जाति नहीं रही, जो कुछ शताब्दियां पहले थीं। इसे समय ने जल्दी बूढ़ा कर दिया है। भले ही मुझे बहुत आशा नजर नहीं आती, पर फिर भी तुम्हारे जैसे युवक, बुझते दीपों की लौ थोड़ी देर और प्रकाशित तो रख सकते हैं।"

"दूसरी बात : अपने आपको क्रोध में न खो देना। मुझे स्वयं इस अवगुण ने जीवन में एक बड़ी हार दी है। तीसरी और अन्तिम बात कुमार, बड़ा होकर कहीं छोटा न बन जाना"। छोटे होते हुए बड़ा होना इतना कठिन नहीं जितना बड़े होकर बड़े रहना।"

राणा जी ने कस कर लिपटाया और मेरा माथा चूमा। मैंने उनकी छाती से सिर लगाया। पिता जी की याद लौट आई। मैंने राणा सवाए सिंह के अन्तिम शब्दों का भी उतना ही सत्कार किया है जितना पिता जी के अन्तिम वचनों का। उनकी पहली बात को मैं पहले ही निभा रहा था और सदा निभाता आया हूं।

मेरी शूरवीरता ने राजपूतों की ढहती कलाओं में नया खून तो नहीं भरा, पर इतना मैं अवश्य कह सकता हूं कि एक बार मैं उनको झटका देने में अवश्य सफल हुआ हूं।

राणा जी की दूसरी बात मुझे सदा याद रही है पर मुझे शर्म महसूस होती है कि मैं सदा अपने आपको अपने काबू में नहीं रख सका। एक तो मैं जवान था और दूसरा सैनिक। भले ही अब मैंने पहले से अपने क्रोध को अवश्य संयत कर रखा है।

और तीसरी नसीहत के विषय में मैं बहुत कुछ नहीं कहूंगा। मेरी सेवा मेरे पिछले वर्षों में मेरा आदर्श बन गई है। जो मेरे निकट आए हैं, मुझे आशा है, वे मेरी बात का समर्थन जरूर करेंगे।

पर जिस चीज ने राणा सवाए सिंह को मेरे लिए सबसे बढ़ कर अविस्मरणीय बनाया है, वह न तो उनकी ये तीन नसीहतें हैं, न ही उनका मुझे पांच साल के लिए पालना।

नहीं, मैं राणा सवाए सिंह जी का सदा ऋणी हूं क्योंकि उन्होंने मुझे वह चीज़ दी है, जिसके बिना मैं वहां न पहुंचता जहां आज हूं। वह थी उनका प्रोत्साहन! हर महानता की असली वास्तविकता।

× × × ×

मेरे जाने का सबसे अधिक दुःख माता कान्ता को हुआ। बच्चों को भी जब पता लगा कि मैं जा रहा हूं तो वे भी मेरी गोद न छोड़ते थे। माता जी तो कई बार रोईं। "मैंने तुझे अपनी कोख से उत्पन्न की तरह पाला था, कुमार, और तू अब चला जायगा?" मुझे कान्ता ने जाने ही कहाँ देना था, जो राणा सवाए सिंह उसे न समझाते। फिर भी वह मेरी विदा को टालती ही रही। चार दिन और, दो दिन और! एक दिन और! कल सवेरे! आज शाम!

मातृ-हृदय! मैं तुझे प्रणाम करता हूं!

# १४

देवनगर जाने के समय मैं बहुत उदास था।

आह ! मैं क्या कुछ पीछे छोड़ जाता था, मैं अठारह वर्ष का युवक, घर का सुख और आराम, मां की गोद, पिता का प्यार, मित्र का हृदय।

और शोक कि केवल यही नहीं। साथ ही मैं छोड़ जाता था–नीलकंठ और रोहिणी।

रोहिणी की याद उस वक्त सब दुःखों को, सब यादों को पराजित कर रही थी।

एक दीर्घ समय तक मैं इस घोर उदासी तले पसीजता रहा और अन्त में भविष्य के चाव और सपनों ने मुझे इस उदासी से बाहर निकाला।

कितनी तीव्र गति से मानव–मन बदलता है। अपने धंधे, व्यस्ता और जोरदार भाव मन की गति को मुश्किल से कुछ पलों के लिए रोकने के योग्य होते हैं। जिस समय किसी ठेस या गम की एकतनता टूटती है, उस समय से उस दुःख का भार हल्का होना शुरू होता है।

मन पर पड़ा निरन्तर भार जीते जी मन का अन्त कर देगा।...

मैं चलता गया और सक्रम उदासी के बहाव और इच्छाओं के चाव में गिरता, उड़ता गया।

अपने स्वप्नों में मैं विजयपुर का महा सेनापति बन चुका था, अपने पिता के द्रोही का पता लगा चुका था; संयुक्ता मेरे साथ थी और मैं सुखी था। मेरी प्रसिद्धि अन्य राजपूत रियासतों ही में नहीं, सारे भारत के कोने २ में बिखर गई। बड़ी २ ताकतें मुझ से डरतीं और मुसलमान मेरे नाम से भी कांपते। वीर योद्धा कर्ण की जगह लोग मेरा नाम लेकर उदाहरण दिया करते थे, 'तू भी कोई कुमार है!"

यह सब कुछ हो चुका था, हो रहा था मेरे सपनों, मेरे ख्यालों में। पर देवनगर से निकलने के समय मैं केवल अठारह वर्ष का कुमार था। और कुछ नहीं। मेरे अपने स्वप्न ही मेरे डर का कारण थे सन्देह संगठित हो रहे थे क्या सचमुच ही मैं अपने आदर्श और आकाँक्षाओं के शिखरों को स्पर्श कर सकूंगा?

एक उलझन जो और भी मुझे सता रही थी, वह यह थी कि विजयपुर में अपनी वंश-परम्परा बताऊं या न। मुझे विश्वास था कि मेरे गुण इतने हल्के नहीं कि पिता जी के नाम के बिना उनका कोई मूल्य न पड़े, पर क्या यह ठीक होगा?...और इस तरह चिन्ता बोझिल मैं चलता गया......

मैं पहले लिख आया हूं—वह बूढ़ा जिसे हम राम जस के साथ मिले और जिसका नाम पूछने से भी मैं रुक गया, मेरे पुनः वहां पहुंचने पर अन्तिम साँस ले चुका था।

मुझे उस बूढ़े से स्नेह हो गया था। एक नाटकीय पात्र की तरह उसका सरदार मान सिंह की बातें करते करते जोश में आ जाना मन को खींचता था। लगता था कि वह अवश्य पिता जी का निकट

बर्ती रहा होगा । और यदि उसे पता चल जाता कि मैं सरदार मानसिंह का पुत्र हूं तो वह अवश्य ऐसा रंग का पत्ता फेंकता कि विजयपुर का कोई बड़ा खेल चौपट हो जाता । पर वह जादूगर अब मर चुका था ।

विजयपुर में पहली निराशा का प्रभाव मुझ पर बहुत होना था यदि मेरा दूसरा पग ठीक स्थान पर न पड़ता ! मुझे स्मरण था कि एक मनुष्य ने, जिसका नाम राम नंत था और ऋषि-परगने का हकीम था और जिससे 'आदम खोर' को मारने के उपलक्ष्य में शाबाश लेने के लिए मुझे उपस्थित किया गया था, मेरे में विशेष दिलचस्पी ली थी । उससे अच्छा ठिकाना मुझे विजयपुर में नहीं मिल सकता था ।

ठीक, राम नन्त ने उस समय मेरे में दिलचस्पी ली थी, पर मेरा सारा चाव किरकिरा हो गया जब मैं उसके पास गया और उसने मुझे पहचाना तक न । पर जब मैंने उसे 'आदमखोर' का हाल भी सुनाया तो भी उसकी याद तनिक देर में लौटी । पर जब राम नन्त की याद एक बार में लौटी तो बड़े वेग से । मैंने एकाएक उसके लिए अत्यन्त उत्साह का कारण बन गया । उसने मेरा इस प्रकार सत्कार किया जैसे मैं सात समुद्र पार करके एक महान कल्पित दैत्य को मार कर आने वाला कल्पित राजकुमार होऊं ।

"हां, सरदार कुमार सिंह, [कुमार सिंह ! मैं तुझे जानता हूं, बहुत अच्छी तरह बहुत अच्छी तरह" वह इसी तरह बातचीत करता था ।

"अच्छा कुमार सिंह, कुमार सिंह...तूने कहा था कि मेरा घर अमरावती में है, अमरावती में है ! अमरावती में !"

"जी हां ।"

देखा ! मैं कैसे छोटी २ बातें भी याद रखता हूं; छोटी-छोटी बातें भी ! मैंने तुझे पहचाना नहीं, तू बहुत बड़ा हो गया है, बहुत

बड़ा हो गया है, बहुत बहुत बड़ा !"

शुक्र है कि उसने सभी के सामने मुझसे यह न पूछा कि मैं किस लिए फिर उसके पास लौट आया हूं ! उस रात के लिए उसने मुझे अपना अतिथि बनाने की दया की ।

"तुम्हारे माथे पर मुझे सुन्दर रेखाएं नजर आती हैं, कुमार सिंह, सुन्दर रेखाएं; बड़ी सुन्दर रेखाएं !" उसने कहा था ।

दूसरे दिन जब मैंने उसे शर्माते शर्माते बताया कि मैं विजयपुर की सेना में भर्ती होना चाहता हूं तो सहसा आश्चर्य ने उसे दबा लिया । वह अवश्य मुझे बड़े घराने का राणा समझता था, पर अवसर को समझते हुए उसने कहा :

'अच्छा ! बेशक, जरूर, जरूर, पर इतनी जल्दी नहीं, इतनी जल्दी नहीं । तू मेरे पास तीन-चार महीने रहा !"

"जैसे आप कहें" मैंने उत्तर दिया । "पर मैं यहां करूंगा क्या ?"

"तू यहां करेगा क्या ? तू यहां क्या...करेगा...क्या करेगा...? यह भी मुश्किल है ? तू मेरे घर रात रहा है, मेरे घर,...मेरे घर..." उसका भाव शायद यह था कि उसने एक रात के लिए अपना अतिथि बनाया हो, उसे वह कोई छोटा-मोटा काम तो नहीं दे सकता । अन्त में उसने मुझे ऋषि-वन की देख-भाल करने का काम सौंप दिया ।

# १५

विजयपुर की सेना में भर्ती होने की मेरी आशा भी जल्दी ही पूरी हो गई ! पांच छः महीने ऋषि-वन के कार्याधिकारी का काम करने के बाद राम नन्त स्वयं मुझे विजयनगर लाया और देव राम के साथ मेरा परिचय कराया।

देवराम विजयपुर की सेना का, जिसे पिछले पचास सालों से विजयी सेना कहते चले आते थे, एक सरदार था। इतनी पहुंच वाला तो नहीं, पर फिर भी उसकी थोड़ी-बहुत मानी जाती थी। विजयी सेना में नौकरी करते वह बूढ़ा होने को आया था। उसकी सिफ़ारिश से मैं विजयी सेना में भर्ती हो गया।

हमारे जीवन की आधी सफलताएं भाग्य से मिले अच्छे मनुष्यों के कारण होती हैं। मुझे भी अनेक प्रतिष्ठित और दयालु व्यक्तियों को मिलने का सम्मान मिला है, जिन्होंने अनजाने में, मेरे निर्माण में बहुत भाग लिया है। देव राम उन व्यक्तियों में से एक था।

देवराम का एक विशेष गुण यह था कि वह अपने से छोटों के उन्नति-पथ में कभी नहीं खड़ा होता था। मैंने अपने जीवन में ऐसे

मनुष्य बहुत कम देखे है। इस उदार-हृदयता के लिए अत्युच्च आचारण की आवश्यकता है, और यह कहना भी गलत न होगा कि यह उदारता अधिकतर गंभीर और भक्ति-भाव वाले लोगों में ही अधिक देखने में आती है। इस भाव को सजीव रखने के लिए मन की समरसता और शान्ति दो अत्यावश्यक वस्तुएं हैं। वह शान्ति और सम्पूर्णता जो थोड़े-बहुतअटकाव से गर्व में आकर अपने किनारों पर से उछल नहीं जाती।

देवराम का यह एक गुण कितने गुणों के बराबर था। जब पांच छः सालों के थोड़े से समय मे ही मैं उस पर सेनापति के पद पर नियत हुआ तो, बलिहारी देवराम के, मजाल है जो वह मुझे कल का बच्चा समझ कर मेरे आगे ऊँचा बोला हो। उसने मेरी वही इज्जत की वही शोभा प्रदान की. जो मेरी पदवी के योग्य थी।

* * * *

हाँ, और मैं विजयी सेना का भाग बन गया।

पहले कुछ महीनों में ही सरदार देवराम को मेरी शूरवीरता और शस्त्र-चालने के विशेष पेचीदे ढंगों का पता लग गया। एक सौ पचास सिपाहियों मे से प्रकट हो जाना कोई बड़ी बात न थी। पहले छः महीनों ही में मैं देवराम की सरदारी में सबसे निपुण और बाँका घुड़सवार गिना जाने लगा।

शूरवीर राजपूत सिपाही की किस्मत तभी जागती है जब कही लड़ाई हो। शान्ति में तो तलवारों की धारों को जंग खा जाता है और बांहें निर्बल हो जाती हैं। यहां तक कि भावनाओं के भी सो जाने का डर होता है।

देवराम की सरदारी तले मन को मारते और नीरस सैनिक जीवन व्यतीत करते हुए दो वर्ष गुजर गए। मेरी जवानी शिखर पहुंचने के के लिए जोर लगा रही थी।

आखिर शुक्र-शुक्र करते लड़ाई आई। भले ही वह थी साथ लगती राजगढ़ की राजपूत राजधानी के साथ ही। तब भी और अब भी मेरा मन अपने राजपूत वीरों से हाथ अजमाने में संकोच करता है। महसूस करता हूं कि यह अन्याय है।

पर उन दिनों में इस लड़ाई को भी मैं 'स्वागतम्' कहने से न रह सका।

लड़ाई हुई। बहुत लम्बा भयानक युद्ध नहीं केवल एक-दो दिन की मुठ-भेड़े।

विजयपुर राजगढ़ की ओर से हुए निरादर का उचित जवाब देना चाहता था। राजगढ़ में से गुजरते विजयपुर के दो युवकों को लूट लिया गया था और एक वध हो गया था, और जब विजयपुर ने उन मासूमों पर हुए अत्याचार की जांच की मांग की, तो राजगढ़ का सरकारी उत्तर था,—"हम आपको उत्तर देने के लिए विवश नहीं।"

राजगढ़ छोटो रियासत थी। बिजयपुर से टक्कर लेने का सामर्थ्य तो उसमें न था। पर उसके दिल में जो विजयपुर के लिए वैर-विरोध रखने की शक्ति थी, उसके सम्मुख तो विजयी सेना निशस्त्र थी। राजगढ़ के निवासियों के हृदय में विजयपुर-निवासियों के घृणा और क्रोध की ज्वाला भभकती रही और विजयपुर को उसकी दक्षिणा देनी पड़ी।

सेनापति भगवान सिंह सेना का सचालन कर रहे थे। उस सेना में केवल तीन सरदारियां ही सम्मिलित थी। देवराम की सरदारी उनमें से एक थी और मैं, कुमार सिंह, देवराम का जाना-पहचाना सिपाही।

मेरे भाग्य ने उछाल ली। मेरी बांहों ने हिम्मत की। मेरे हौसले ने शाबाश कही। ककोरम की लड़ाई में मेरी वीरता की धूम

बच गई। मैंने अकेले दस शत्रुओं को ढेर किया और मुझे खरोंच तक न आई। स्वयं सेनापति भगवान सिंह ने एक समय मुझे हमले में देखा और अपने पास बुला कर दाद देने से न रह सके। लड़ाई खत्म हुई। विजयी सेना लौट आई और कुमार सिंह विजयी सेना में जैपाल की जगह, जो ककोरम में काम आया था, सरदार के पद पर नियत किया गया।

× × × ×

ककोरम की लड़ाई से विजयपुर लौट आने के बाद सारी सेना को एक महीने की छुट्टी मिली। मैं उनमें था।

सभी व्यक्ति खुश थे कि वे घरों को जा रहे थे। मैं परमात्मा का कितना धन्यवादी था कि मेरे भी सन्तोष का एक कारण था। मैं भी देवनगर जा सकता था, अमरावती पहुंच सकता था। वहां मुझे स्नेहपूर्ण 'स्वागत' की आशा थी। बीच में रामनन्त के पास दो रातें। ठहरा मेरे विजयी सेना में सरदार बनने का समाचार मुझसे पहले वहां पहुंच चुका था। मुझे सभी ने हाथों पर उठा लिया।

राणा सवाए सिंह जी ने बड़े स्नेह से मेरे कन्धे पर हाथ रख कर मुझे कहा, "कुमार सिंह, मुझे तुमसे यही आशा थी।" और उनका कहने का ढंग ऐसा था जैसे वह इसमें मेरे से अधिक अपनी सफलता समझते हों।"

माता कान्ता को मेरे सरदार बनने की कोई प्रसन्नता न हुई, पर उसे प्रसन्ता थी कि मैं उसे मिलने के लिए लौट आया हूं। उसने मुझे एक नहीं, दो नहीं, कितनी बार चूमा होगा। "पुत्र, पुत्र, पुत्र" कहती-कहतीं कान्ता का मुंह सूखता जाता था।

"पुत्र शुक्र है तू लौट आया है," "अच्छा गया कुमार फिर लौट कर ही न आया" "पुत्र कुमार, तू माताओं के दिल नहीं जानता,"

"तुझे कभी कोई दुःख तो नही हुआ ?" "तुझे किसी ने कुछ कहा तो नहीं ?" पूरा जवान बन गया है मेरा पुत्र, अब तो।"

प्यारी अम्मीं कान्ता ! नहीं, मैं नहीं जानता था माता के हृदय को; नहीं, मैं नहीं था समझ सकता तब मां के हृदय को, भले ही मैंने तुम्हारी गोद में पांच साल बिताए; क्योंकि मैं स्वयं मां की गोद में नहीं खेला था। मुझे किसी मां ने नहीं पाला था। पर समझ गया अम्मी कान्ता, मां का दिल, जब तूने मुझे चूमा और लाड़ किया था उस दिन ! तब मैं हृदय की सीमा तक पहुँचा और उसके अनन्त प्यार की झांकी देखी। तब मुझे पता लगा कि मां बनना आधा प्रभु बनना है। प्यारी मां कान्ता, काश ! मैं किसी तुम्हारी जैसी माँ की गोद में बचपन के कुछ साल भी गुजार सकता !

भले ही कौन मां के प्यार के लिए भी कभी बहुत बड़ा हो जाता है ?

बच्चे भी अभी तक मुझे नहीं भूले थे। सुमेर, उषा, और मनोरम सारे पहले अचम्भे के बाद मुझ से लिपट गए।

बच्चा भूल अवश्य जाता है, पर उसकी स्मृति जगाने में देर नहीं लगती। बच्चे की याद चटाख करके उठती है और उसे पहले जैसी सुधि आ जाती है। संकोच तो होना ही न हुआ, शंकाओं की गुंजाइश ही नहीं होती। बस प्यार ही प्यार होता है, जिस समय भी जागा—उठा और पुलकित किया।

पृथ्वीसेन अभी भी पुराना पृथ्वीसेन था। मैंने कई बार सोचा है कि पृथ्वीसेन का नाम बहुत भ्रान्तियां लिए है। उसके नाम और आचरण में बड़ा अन्तर है। 'पृथ्वीसेन' माता, छन् छन् करता नाम इस गुमसुम मिट्टी के माधो को जंचता नहीं। सेन तो आगे से भी बढ़ कर मौन और एकान्त प्रिय हो गया था। काम पर जाता....., लौट आता। अकेला सैर करने जाता और सो

रहता । माता-पिता और बहन-भाइयों की शिकायतें, मेरी अनुपस्थिति में अन्तिम पड़ाव तक पहुंच कर अब फिर घट गई थीं । माता कान्ता ने पृथ्वीसेन से उसके दिल की बात पूछने के लिए मुझ पर ज़ोर डाला । 'उसने विवाह कराने से भी 'न' कर दी है'' उसने मुझे बताया । राणा सवाए सिंह ने मुझे कहा, "कुमार, सेन को पता नहीं, क्या हो गया है । देख अगर तुम्हें ही दिल की बात बात दे ।"

पर पृथ्वीसेन ने मुझे कुछ न बताया । एक बार नहीं, कितनी बार मैंने टटोला, साक्षात् कोशिश की, पर वह था कि टस से मस नहीं होता था ।

"कुछ हो तो बताऊं !"

"पर फिर तू इतना चुप क्यों रहता है ?"

"यह मेरी आदत है कुमार" वह मुस्कराता ।

"ऐसी आदत का भी क्या कहना ! यदि आदत है तो इसे बदलता क्यों नहीं ? जानता नहीं कि तेरी यह आदत कितनों के दुःखों का कारण बन रही है ।"

"औरों को क्या, यह मेरे लिए भी बड़े दुःख का मूल कारण बन रही है, पर मैं लाचार हूं ।"

"किस लिए लाचार हो ? तुम्हारे दिल पर अवश्य कोई बोझ है । सेन मैं जानता हूं । मुझे अपना समझ कर बता दे । मैं तुझे बचन देता हूं सेन कि तेरी मर्ज़ी के बिना किसी को आभास तक न होने दूंगा !"

"क्या बताऊं कुमार" और वह चुप कर जाता

किसी न किसी ढँग से मैं उससे विवाद-योग्य बात चलाता, तो वह कहता "चल जाने दो कुमार।"

"अच्छा, तू ही ठीक सही, पर बताओ मैं क्या करूं।"

उसकी बातचीत का ढँग कुछ इस तरह का होता कि मुझे झट रोहिणी याद आ जाती। जैसे-जैसे दिन बीतते गए मुझे निश्चय होता गया कि सेन सच ही रोहिणी से प्यार करता था! किन्तु इस विषय पर कभी प्रश्न करने की आज्ञा सेन ने मुझे न दी। हो सकता है कि मैं उस समय अपने प्यार में इतना तल्लीन होऊं कि सेन को पूरी तरह समझ न सका होऊं। यदि यह सही भी था, तो भी निःसन्देह रोहिणी सेन का प्यार लौटा न रही थी।

बेचारा सेन! शायद इस प्यार की हार ही उसकी जीवन हार बन गई! कौन जानता है? पृथ्वीमेन के सारे दुःख सुख उसके अपने लिए ही तो थे।

एक और भी विशेषता थी। वह इतनी आकर्षक थी और उसका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि राह-चलते हुओं को वह अपना बना लेता था और फिर यों दूसरों को अपना बना कर वह आप किसी का नहीं बनता था।

पीछे चल कर अवश्य उसका यह गुण शिथिल हो गया था, पर अभी भी पूरा ग्रहण नहीं लगा था। वह उसी तरह दिलों को मुग्ध कर सकता है और आखिर अब उसने विवाह भी तो कर लिया है।

मैं उसका कितना कृतज्ञ होऊंगा, जो वह अब भी कभी मुझे अपने दिल का रहस्य बता सके।

"नहीं, मैं जानता हूं, अब वह कहेगा —अब क्या बताना है कुमार, अब तो नदी-तट के वृक्ष हैं।" और वह मुसकराएगा! सेन मुसकराएगा! पता नहीं उसके जीवन में मुसकराहट को कौन सी जगह प्राप्त है!

देवनगर आकर मैंने एक विशेष दूत भेज कर चितरंजन और राहू को वहां बुलाया। चितरंजन को तो मैं विजयपुर जाने से पहले मिल कर गया था, पर राहू से मिले साल ही हो चुके थे। कहानी इतनी आश्चर्यमय न होती यदि राहू मुझे पहचान भी न सकता।

राहू की दी हुई पगड़ी अब तक भी मेरे पास सम्हाली पड़ी है और मैंने उसे सम्भाले रखा, जिस दिन तक मुझे राहू की मौत का समाचार न मिला, और फिर मैंने वह पगड़ी स्वयं इस्तेमाल की।

राहू मेरे बुलाने पर आया तो ठीक, पर अब वह आने के योग्य न था। वह वृद्ध लगता था और उसके बाल सफ़ेद हो गए थे! एक तो वह बेचारा वैसे ही कोई छः महीने खाट से लगा रहा था और फिर घोड़े से गिर कर टांग तोड़ ली थी।

"छोटे कुमार, छोटे कुमार, मुझे बड़ा खुशी है कि आपने मुझे याद किया है।"

"राहू, कितनी बार मेरा जी तुम्हें मिलने को हुआ, पर अब हम एक दूसरे से कितनी दूर हैं!"

"हां, छोटे कुमार" उसने ठंडी आह भरी।" मेरे भाग्य में तुम्हारी सेवा करना न लिखा था, नहीं तो मैंने क्या कमजोर लगाया था!"

राहू सच कहता था! उस बेचारे ने बड़ा जोर लगाया था। पर अब वह मेरे साथ के योग्य ही न था! दस-बारह वर्षों में राहू की दुनिया बदल गई थी, पर उसकी अभी तक वह पटका बांधने और उतारने की आदत पूरी तरह न गई थी। कभी २ वह अब भी वह शौक पूरा कर लेता था।

"राहू, अभी भी तू पगड़ी बार-बार उतार कर बांधता है" मैं मुसकराया।

"कब, कुमार जी" और खीझ कर उसने अपनी पगड़ी उतार फेंकी।

यह राहू से मेरी अन्तिम भेंट थी। उसके अनन्तर वह चार-पांच साल ही और जीवित रहा और इस तरह हमारी किसी समय की गहरी मित्रता का अन्त हुआ। जमाने ने मुझे ऐसे वियोग के सदमों को सहने के लिए बड़ा कठोर बना दिया है।

रोहिणी के बारे में लिखते हुए मैंने एक बार गढ़-मन्दिर जाने का उल्लेख किया था, वह दौरा भी मैंने देवनगर से इन्हीं दिनों किया।

फिर महीने बाद मैंने विजयपर की राह पकड़ी और नई इच्छाओं, नई उमंगों से मेरा साथ था।

# १६

देव राम ने मेरी सरदारी की खुशी में मुझे खाने पर बुलाया। यह देव राम की उदारता का सुन्दर प्रमाण था। खाने पर और भी पांच छः सरदार इकट्ठे हुए और दो सरदारों की पत्नियाँ और बच्चे भी आए।

देव राम और उसकी पत्नी के अतिरिक्त जो इस अतिथि-सत्कार में विशेष भाग ले रही थी वह थी शकुन्तला।

शकुन्तला देव राम की इकलौती लड़की थी। कद की छोटी, गोल चेहरे वाली और नक्श की तीखी। उसने उस दिन एक झीनी सिल्क के तरबूजी रंग के वस्त्र पहने हुए थे। उसके लम्बे बाल, अधखुली चोटी और फिसलते आँचल में से सहज ही देखे जा सकते थे जैसे कि वे इतने ही कोमल हों कि बांधते २ फिसलते जायं, बिखरते जायं!

"लीजिए, यह खाइए" उसने मिठाई से भरी एक तश्तरी मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा।

"नहीं, मैं बहुत खा चुका हूं, मुझे क्षमा करो।"

"लीजिए न" उसने तश्तरी और आगे की ।

"अगर आप बहुत ही मजबूर करते हैं" मैंने एक बार उसकी ओर देखा और साथ ही एक टुकड़ा उठाने के लिए हाथ बढ़ाया। नजरें सामने थीं। मिठाई को देखे बिना उठाने के लिए कुछ देर टटोलना पड़ा । मेरी ओर देखते हुए वह भी तश्तरी की ओर नजर न रख सकी सो एक दो टुकड़े नीचे गिर पड़े । हमें विवश हो अपनी आंखों की तार तोड़नी पड़ी ।

मैं घर लौटा । शकुन्तला मेरे ख्यालों में उतनी न थी जितनी रोहिणी । क्योंकि रोहिणी की याद एक बार फिर मुझे बेचैन करने लगी । रोहिणी आप गई, रोहिणी का प्यार गया......

और फिर यह क्या था ? उस रात आंख लगने से पहले रोहिणी की शक्ल में शकुन्तला की शक्ल मिलती जा रही थी...मैं हैरान था......।

× × × ×

कोई नया काम छूते किसी के साथ की चाह बड़ी प्रबल होती जाती है। उस वक्त मनुष्य यदि अकेला हो तो एकाकीपन की अनुभूति उसे चैन नहीं लेने देती। उन दिनों जब मैं विजयनगर आकार रहने लगा और अपना नया घर बसाया, तो मुझे भी इस मानसिक रोग का सामना करना पड़ा। ज्यों ज्यों मैंने घर को सजाया, और उसके सौन्दर्य में वृद्धि की, त्यों-त्यों मुझे मेरा एकाकीपन काटने लगा और मुझे वे सारे साथ याद आए जो अब मुझसे दूर थे।

जीव लाल मेरी सरदारी में एक सैनिक था। राजगढ़ की लड़ाई में उसकी एक बांह कट गई थी और अब वह असमर्थ था उसे और उसकी पत्नी मोहिनी को मैंने अपने घर बुलाया। मोहिनी अपने साथ अपने एक दूर के सम्बन्धी आनन्द को भी ले आई। मेरा एकाकीपन

और उदासी कुछ मन्द हुई और उनको बुढ़ापे में उचित आराम मिला।

एक दिन मैंने देव राम और उसके परिवार को अपने घर खाने पर बुलाया। शकुन्तला भी आई और उसने मेरा घर देखने के लिए विशेष इच्छा प्रकट की। कई बार 'अति सुन्दर' 'बड़ा सुन्दर' कह कर मेरी प्रशंसा की और मैं उसके इस चाव भरे उत्साह पर सोचता रहा, एक लम्बी देर——!

* * *

दो-अढ़ाई सालों में मेरे विजय सेना का सरदार बन जाने का समाचार सब सुन तो चुके ही थे पर अभी तक यह समाचार उनके मन और मस्तिष्क में रच नहीं सका था। उन्हें विश्वास नहीं होता था कि कल का छोकरा कई सफेद-दाढ़ियों को आंख–झपटने में पछाड़ जायगा। अभी तक विजयी सेना में कभी किसी ने इतनी जल्दी उन्नति नहीं की थी।

सिपाही, पदाधिकारी, छोटे सरदार मेरी ओर इशारे करते थे। "बड़े भाग्य वाला है," कोई कहता था तो दूसरा साथ में जोड़ता "जवान भी तो गजब का है"। "हाँ भई" कोई और कहता, "कौन विजयी सेना में इस जैसा तलवार का धनी है ?" मेरा अर्दली चाव से ये बातें आकर मुझे सुनाता और यह सुन कर उन मैं दिनों कितना सन्तोष अनुभव करता !

चारों ओर बिखरी यह प्रशंसा देख कर मेरे भविष्य में विश्वास वस्तुत: पक्का हो गया "कुमार सिंह अवश्य कुछ करके दिखएगा" ! मेरे गिर्द ये शब्द सदा घूमते रहते थे।

पर इन सब रुचियों और कमर कसे हुए जीवन के विपरीत भी मेरा दिल विजय नगर में पूरी तरह लग न सका। मुझे पिता जी

के अंत काल के समय कहे बचनों की याद सताती ही रही। और इसके उपरान्त बहिन संयुक्ता के मधुर–मधुर ख्याल मुझे व्याकुल करते रहे। विजयपुर में आने, अपनी मातृ भूमि की हवा खाने और राम नन्द के पास रहने और विजय सेना में भर्ती होने की रोमाञ्चिक घटनाओं के आवेग से पहले-पहल मैं पिता जी के भेद और अपने आपकी कोई खोज न कर सका। ककोरम की विजयी से काफी देर पहले मेरी यह उत्सुकता काफी बढ़ चुकी थी। मैं बड़ा बेचैन रहता था। विजयी सेना में मेरे बहुत कम मित्र थे। मैंने किसी के निकट जाने का अधिक प्रयत्न ही नहीं किया, पर जो दो चार निकट वर्ती थे भी, वे मुझसे हज़ार बार मेरी बेचैनी का कारण पूछ चुके थे!

सेना में भर्ती के समय मैंने अपने पिता का नाम राणा मान सिंह ही लिखाया, पर उससे अधिक अन्तर नहीं आता था। राजस्थान में मान सिंह सर्वप्रिय नाम है।

दो बार मैं दादा निर्भय सिंह की समाधि पर फूल चढ़ा आया। विजय नगर से साठ मील पूर्व की ओर रायपुर के पास यह समाधि सुशोभित्त थी और हम पहले-पहल यहां के ही निवासी थे।

पर मेरे पिता जी अपनी नई उम्र में, राणा निर्भय सिंह जी की मृत्यु पर, उस स्थान को छोड़ आए थे और स्थाई रूप से विजय नगर में ही रहने लगे थे। फिर सेना और राज्य-प्रबन्ध के कार्य से उन्हें इतनी फुरसत्त ही कभी नहीं मिली कि वे अपने पुराने गाँव में बहुत देर रह सके। हां, अवसर निकाल कभी न कभी वे चक्कर जरूर लगा आते थे। वहाँ से भी मुझे पिता जी के बारे में बहुत कुछ जानने को न मिला।

हां, पिता जी के बचपन की कहानी मुझे जरूर सुनाई गई। मैंने अपने घराने की पुरानी हवेली भी देखी, जहां पिता जी पल कर

पन्द्रह वर्ष के हुए थे और वह अश्व-पथ जहां वह सवारी करते रहे होंगे ।

इन दोनों दौरों में मैंने अपने आपको राणा निर्भय सिंह की अंश नहीं बताया था ! और इस तरह मैंने अपने पिता-पितामह के गांवों में से लौट आया, केवल और यादों से झोली भर कर——।

बाद में जब मैंने विजयपुर में एक उच्च पद सम्भाला तो मैं फिर एक बार अपने गांव गया । रायपुर के सारे इलाके की ओर से दिल खींचने वाला स्वागत मुझे अब तक याद है और विशेषकर उन छः सात वृद्ध पुरुषों का प्यार और आलिंगन जो सरदार मान सिंह को जानते थे ।

देवनगर से लौटने पर फिर जो कुछ मुझे पता लगा वह यह था:—

महामन्त्री सत्वेन्द्र, उनके लड़के परमेन्द्र और मेरे पिता सरदार मान सिंह में कुछ अनबन हुई थी । सरदार मानसिंह के विजयपुर छोड़ जाने के बाद, मुझे बताया गया कि महा मन्त्री सत्वेन्द्र भी राजकीय कार्यों के अतिरिक्त थोड़ा-बहुत ही बाहर निकलते थे, इसका बड़ा कारण परमेन्द्र की मौत था । पिता जी की विदा के बाद परमेन्द्र जल्दी ही मियादी बुखार का शिकार हो गया था । निःसन्देह मौत से दो मास पूर्व वह विजयी सेना का सेना-पति भी रह चुका था ।

महामन्त्री सत्वेन्द्र को मैंने एक-दो बार दूर से ही देखा था । उनका प्रभाव मुझ पर बड़ा सुखकर पड़ा था और उनको देखते ही मेरे दिल में उनके लिए स्नेहपूर्ण आदर जाग उठा था । उनके आचरण की दृढ़ता और विद्वता और सूझ की चारों दिशाओं में फैली कीर्ति मुझे वर्षों से आकर्षित कर रही थी । जब उनके और पिता जी के बीच हुए झगड़े की बात बताई गई, तो मैं किसी भी तरह यकीन नहीं कर सका था कि उन्होंने मेरे पिता से कभी भी कोई बेइन्साफी की होगी !

पर परमेन्द्र का पिता जी के स्थान पर सेनापति बनना अवश्य कुछ बताता था। मैं सोचता था कि क्या यह परमेन्द्र ही था ? उसके जीवन-विषएक सुनी-सुनाई बातों से भी वह मुझे घटिया दर्जे का आदमी लगा था। पर परमेन्द्र भी तो अब जीवित न था।

यह सोचते हुए एक बार तो मैंने इरादा किया कि सीधे महामन्त्री जी को मिलूं और उनको इस उलझन पर प्रकाश डालने की विनय करूं पर मैं झिझकता ही रहा।

*　　　*　　　*

शकुन्तला बरबस मेरे निकट आ रही थी, और मैं अन्दर ही अन्दर बढ़ रहे इस प्रभाव के विरोध में कोई सीमा न बना सका। धीरे-धीरे वर्षों के बीतने से मुझे ज्ञात हो गया है कि एसे अवसरों पर कोई सीमा था मेंढ सफल हो भी नहीं सकती।

यह उम्र और समय ही ऐसा होता है ! मित्र दूर जा रहे होते हैं। पुराने साथ छूट रहे होते हैं। हर कोई अपनी-अपनी जिन्दगी सफल बनाने के प्रयत्न में लगा होता है। एक मारण एकाकीपन मनुष्य के गिर्द बिखर जाता है और कभी लगता है कि किसी के चिर साथ के बिना हम समाप्त हो जाएंगे।

मैं से तेईस-चौबीस वर्ष का कुमार उस बड़े मकान में अकेला रहता था। जीवलाल, मोहिनी और आनन्द मेरा आदर करते थे, मुझे प्यार भी करते थे, पर वे मेरे अपने नहीं थे। मेरे मनोभावों की पहचान उनके लिए अनहोनी थी। पृथ्वीसेन दूर था, चितरंजन उससे भी दूर और मेरे विजयपुर के सैनिक साथी भी थोड़े थे।

किसी किसी दिन फुरसत के वक्त शाम को जब मैं अपने नए खरीदे नीलकंठ के ऊपर बाहर सैर को जाता तो मेरा मन खुली हवाओं, उड़ते पक्षियों और झूलते वृक्षों के तालाब में खो जाता और

दूर-दूर की चिन्ताएं, दूर-दूर के ख्याल मुझे छेड़ने लग जाते। सारा भूत मेरी आंखों के आगे होता और भविष्य के हल्के-हल्के स्वप्न भी साथ में आ मिलते।

किसी के जीवन-साथ की चाह इन वक्तों और दिनों में प्रबल हो जानी बड़ी स्वाभाविक है। भाग्य से उन्हीं दिनों में ही शकुन्तला भी मेरे निकट आई। शकुन्तला से पिछली दो भेंटें एक कहानी की तरह लगती थीं। पहली भेंट में नाटकीय अंश बड़ा मार्मिक था। मुझे लगता था शकुन्तला मेरे निकट आना चाहती है और मेरे अकेलेपन को नष्ट करना चाहती है।

तभी मुझे पता लगा कि शकुन्तला मेरे घर आने के अगले ही दिन बीमार हो गई थी। मेरा पता करने जाना उचित था। मैं गया, शकुन्तला पलँग पर लेटी हुई थी। खुले बाल, सादे कपड़ों और अनधोए मुखड़े से वह सजी-धजी शकुन्तला से कहीं बढ़ कर मनोहर थी, या मुझे लगी। मुझे देख कर वह मुसकराई, मैंने भी मुस्कराहट में उत्तर दिया—

"कहीं मेरे घर रोटी खाने से तो बीमार नहीं हो गई?"

"नहीं, नहीं" उसने कहा, पर उसका यह उत्तर मुझे कृत्रिम और झूठा लगा।

मेरे इन शब्दों का असली उत्तर उसने एक मुसकराहट से दिया जो पहली मुसकराहट से कहीं खिली हुई थी। अथवा यों कि पहली मंद मुस्कान बन्द कली थी और दूसरी विकच पुष्प।

"आपका उस रात का खाना बहुत अच्छा था," शकुन्तला की मां ने कहा।

"यह तो आपकी मेहरबानी है," मैंने उत्तर दिया, "नहीं तो मुझे इन खानों वगैरह का कुछ पता ही नहीं। मैं तो पूरा सैनिक हूं,

जो मिले, जैसे मिले, जहां मिले सन्तुष्ट रहता हूं" । हम सभी मुसकराए । शकुन्तला भी मुसकराई ।

किन्तु खाट पर लेटी बलहीन और शिथिल शकुन्तला की मुसकराहट हम सभी से अधिक भावपूर्ण थी । उसकी मुसकराहट कुछ कह रही प्रतीत होती थी । मुझे लगा, वह कह रही है, भोजन आदि का मुझे बहुत ज्ञान है, मैं आपकी रोटी का ध्यान रखा करूंगी ।"

मैं हैरान हुआ । शकुन्तला यह क्या कह रही थी ! क्या सचमुच ही शकुन्तला बावली है ।

मैंने आज्ञा मांगी । कुछ टालमटूल के बाद आज्ञा मिल गई । अन्तिम बार उन्हीं शब्दों से भरपूर मुसकराहट सहित शकुन्तला ने फिर मेरी ओर देखा ।

मैं घर पहुंचा । मुझे घर का बोझ असह्य लगने लगा । घर की सुन्दरता में मुझे बड़ी कमी महसूस हुई । तस्वीरें अपने स्थान पर नहीं लगी हुई थीं । पर्दे जरा अनुपयुक्त थे । मेरी रोज की रोटी वैसे कोई इतनी बुरी नहीं होती थी । मोहिनी और जीव लाल से इससे अधिक की आशा करना अनुचित था । वे अपना सारा जोर लगा रहे थे । और मैं अपने घर का ख्याल रखने के लिए बहुत व्यस्त था । और फिर मुझे शकुन्तला का ख्याल आया । उसकी भावपूर्ण मुसकराहट साकार मेरे सामने आई । ठीक वह, वही कुछ कह रही थी; मैं चूका नहीं था...... ... ।

क्या मुसकराहट और नजरें इतना कुछ कह जाती हैं, और इतना कुछ समझाया जा सकता है इनके साथ...... मैं सोच रहा था ।

# १७

वक्त गुजरता गया ।

एक ओर लड़ाई की भयंकर परछाइयों के दर्शन होने लगे । लगता था कि लगभग सभी राजपूत रियासतें इसकी लपेट में आने से बच नहीं सकेंगी, भले ही वास्तविक विरोध सचखंडा और जैसलमेर में ही था ।

जैसलमेर अब पहले से कहीं बड़ी राजधानी थी । पिछले साल अमरावती और जैसलमेर संयुक्त राज्य में जुड़ गए थे, जैसे ये आज से बीस साल पहले थे । जैसलमेर राजा सेन की निःसन्तान मृत्यु पर स्वभावतः जैसलमेर राजासेन के छोटे भाई सुन्दर कुल के हाथों में आना था । सुन्दर कुल ने अमरावती को संयुक्त रियासतों की राजधानी बनाया । पर परम्परा प्राप्त नाम का आदर करते हुए समूची रियासत का नाम जैसलमेर रखा ।

जैसलमेर और विजयपुर मित्र थे । सुन्दर कुल और जयसिंह का एक दूसरे से काफी स्नेह था और वे एक दूसरे की सलाह को मानते

थे। पर दक्षिण की सचखंडा रियासत एक खटकता कांटा थी। न वह अच्छी तरह चुभता था, न ही मूल से निकलता था। पता नहीं कैसे सचखंडा के महाराजा सचदेव ने राजगढ़ के राजचंद से अपना नाता गांठ लिया था और अब दोनों रियासतें अपने आपको चाचा-ताऊ के पुत्र, भाई समझती थीं।

और इसके अतिरिक्त सचखंडा राजपूत रियासतों में आर्थिक तौर पर सबसे अमीर थी। सचदेव समझदार था, पर बहुत महत्वाकांक्षी। यही उसका सबसे बड़ा अवगुण था। अपने आपको राजपूतों का प्रथम महाराज कहलाने की आकांक्षा और दूसरों से अपनी अधीनता मनवाने का ख्याल उसे सदैव कोई न कोई उत्पात खड़ा करने के लिए निमन्त्रण देता रहता था। उसे जैसलमेर और विजयपुर से एक गिला था। वह यह कि जब पन्द्रह साल पहले लाहौर के सेनापति ने जैसलमेर पर चढ़ाई की, तो न ही जैसलमेर ने और न ही विजयपुर ने उससे सहायता माँगी, ना ही उसकी सलाह ली और फिर यह कि वे जीत गए।

सचदेव की ओर से सदा लड़ाई के लिए उत्पात होते रहे। यदि अब तक युद्ध नहीं हुआ था तो यह सब महामन्त्री सत्वेन्द्र के सन्तोष और नम्रता के कारण था। पर सचदेव की ज़्यादतियां न समाप्त हुईं। अपितु रोज़-रोज़ वे सीमा तक पहुंचती रहीं और जैसलमेर और विजयपुर के सन्तोष के किनारे टूटने लगे। महामन्त्री सत्वेन्द्र अभी भी बला को टालना चाहते थे पर महाराजा जयसिंह और महासेनापति रामसिंह के विचार युद्ध के पक्ष में थे। उनके ख्याल में उनकी संयुक्त सेना सचखंडा से कहीं शक्तिशाली होगी। पर महान्त्री सत्वेन्द्र का कहना था कि अन्त में हमें केवल सचखंडा से ही टक्कर नहीं लेनी होगी, इधर राजगढ़ है और राजगढ़ से आगे मुसलमान। भले ही राजगढ़ छोटा है, पर वह मुसलमानों की राह में दरवाजे की तरह था। कौन जाने लाहौर प्रान्त के दिल में यह सब अवस्था देख कर

क्या गुजरा, शायद वह पहले ही तैयार बैठा हो और केवल अवसर की तलाश में हो। हमारी परस्पर की मुठ-भेड़ उसके लिए एक इशारा होगी सुदूर पूर्व की रियासत बलेश्वर से किसी सहायता की आशा करना ही उचित नहीं है। वह अभी तक अपनी रियासत में ही अपने विरोधियों पर काबू नही पा सका था।

यह राय भी भारी और भावपूर्ण थी। दूसरी ओर यह प्रत्यक्ष था कि सचदेव वर्षों से लड़ाई के लिए तड़प रहा है। और बला टालने से तो नहीं भाग जाती। आखिर महामन्त्री सत्वेन्द्र ने कहा कि वह स्वयं सचदेव के सौभाग्य को प्रेरणा देने जायगा और उसे राजपूत घराने की बरबादी के खतरों से परिचित कराएगा। यदि वह मान जाय और समझ जाय, तो इससे अच्छी बात और क्या है और यदि न माने तो फिर कोई चारा नहीं।

और अन्त में कोई चारा न रह गया। सचदेव ने कहा कि उसके साथ वास्तविक और हार्दिक मिलाप रखने के लिए यह आवश्यक है कि जैसलमेर और विजयपुर के दरबार उसकी अधीनता स्वीकार कर लें और शेष राजधानियों से किसी किस्म की बातचीत करते समय उसकी सलाह लें।

कितनी हास्यस्पद बात थी यह !

इस जैसी वार्ताएं बताती हैं कि कहां सचदेव बहादुर और कहां राजपूत सिद्धान्तों की पहली सीढ़ियों से भी गिरा हुआ था। राजपूत और फिर अधीनता स्वीकार कर ले ? उसे स्वयं यह माँग रखते हुए शर्म न आई ?

कहा जाता है कि महामन्त्री सत्वेन्द्र ने सचखंड़ा से चलते समय ये शब्द अश्रुपूर्ति आंखों से सचदेव को कहे थे, "सचदेव महाराज, काश आप इस बूढ़े महामन्त्री के सुझाव को स्वीकार करते। मैंने धूप में बैठ कर बाल सफेद नहीं किए हैं। मैं राजनीति को आपसे बढ़ कर

समझता हूं। यदि राजपूतों का सूर्य भारतवर्ष के इतिहास में शीघ्र ही अस्त हो गया तो इसका सारा उत्तरदायित्व आपके सिर पर होगा। काश! आप इस सत्यानाश का कारण बनने से बचे सकते!"

और फिर उन्होंने, कहा जाता है, अपनी बात जारी रखी और कहा, "मैं प्रयत्न करूँगा, आपसे टक्कर लेकर भी आप और हम दोनों अपना-अपना मुंह बचा लें और मुसलमानों को दूर ही रखा जाय। आशा है कि मैं सफल होऊँगा, पर आप······मुझे दुःख है, कि विजय का तिलक इस युद्ध में आपके मस्तक को सुशोभित नहीं करेगा।"

विजयी सेना में यह बात भी प्रचलित थी कि इसके उत्तर में सचदेव ने घृणा की दृष्टि से महामन्त्री की ओर देखा और कहा, "वाह, बूढ़े तोते। इससे पहले कि इस अपमान के बदले में मैं तुम्हें यहाँ ही क़ैद करने पर मजबूर हो जाऊँ, मेहरबानी करके मेरे राज्य से निकल जा।"

अब दोनों ओर लड़ाई की तैयारी हो रही थी। सचदेव की ओर खुल्लमखुल्ला, सुन्दर कुल और जयसिंह की ओर लुकी-छिपी, और महामन्त्री सत्वेन्द्र अफजलपुर और लाहौर प्रान्त से कोई भेद भरी बातचीत कर रहे थे।

महीनों की अपनी आधी जीवन कहानी को मैं इन पृष्ठों से वंचित रहा होऊंगा, यदि मैं यह कहने मे चूक जाऊँ कि ऐसी खबरें सुन-सुन कर मेरी भुजाएं फड़क रही थीं और आँखें नशीली होती जा रही थीं।

## १८

समाचार मिला कि सचदेव ने जैसलमेर पर चढ़ाई कर दी है और उसकी सेना जैसलमेर की धरती पर पन्द्रह मील बढ़ आई है।

उस दिन साँझ हो जाने के दो-तीन घंटे बाद तक मैं काम में व्यस्त रहा। जिस समय मैं घर लौटा, तो बहुत थक चुका था। जीव लाल और मोहिनी मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे।

"कुशल तो है राणा जी?" मोहिनी चिन्तातुर थी।

"बहुत थक गए होंगे ?" जीव लाल ने कहा।

"हां, जीव लाल, मोहिनी ! मैं बहुत थक गया हूं।"

'मैं दबा दूँ ? राणा जी" मेरे चेहरे पर थकावट के चिह्न देख कर जीव लाल का मुँह कुम्हला गया। वह उदास हो गया। उसका उस समय का व्यवहार और प्रभाव मुझे अभी तक भूला नहीं है। मेरे लिए उसके अथाह प्यार ने जीव लाल को बावला सा बना दिया था।

वाह ! जीव लाल। तू भी एक निराला पात्र था, इस संसार की रंगभूमि पर ! तुझे नमस्कार ! काश ! तुम्हारे जैसे, प्यार और

सच्चाई भरे, थोड़े में और हृदय संसार को सौभाग्य प्रदान करने।

"दबाना," मैं उसके निकट गया और उसके कन्धे पर हाथ रख कर कहा, "नहीं जीव लाल कुमार को अभी तक कभी दबवाने की जरूरत नहीं पड़ी और आशा करता हूं कि कभी पड़ेगी भी नहीं। आपको अपने स्नेह में डूबा देख कर मैं तो विवश सा अपनी जरा सी थकावट को अन्त तक ले गया।"

किसी के अथाह प्यार के सम्मुख जान-बूझ कर अपने आपको कमजोर और शिथिल बताना अधिक और अधिकाधिक प्यार मांगने की अज्ञान पर शाश्वत चाह है।

"आज आप इतनी देर से क्यों आए हैं ?" मोहिनी अभी भी हैरान थी। शायद उसने हमारी सेना के कूच करने की खबर नहीं सुनी थी।

"मोहिनी, परसों विजयी सेना युद्ध के लिए जा रही है" जीव लाल ने उसकी सहायता की।

"हैं !" मोहिनी स्तंभित रह गई। "सचमुच" और उसकी आँखें भयभीत हो गईं। वह कांप गई जैसे वह बेसुध होने लगी हो। "परमात्मा, परमात्मा ! और लड़ाई। हाय राम ! मैं तो अभी मन्दिर जाऊँगी।" और 'हाय, राम ! राम !" करती २ वह कमरे से बाहर निकल गई।

* * * *

उस रात, वास्तव में, मैं इतना थका हुआ न था, जितना व्याकुल चित्त।

ऐसे किसी युद्ध की मैं पल-पल प्रतीक्षा करता रहा था किन्तु आज जब मैं जाने की तैयारी में था तो मेरा मन कई चिन्ताओं में खो जाने से न बच सका। अत्यन्त उत्साह पर कुछ समय के लिए धुँध सी छा गई।

उसी शाम मैं और शकुन्तला मिले थे। वह जानती थी कि मैं जा रहा हूं। वह मुझे आखिरी 'नमस्ते' कहने के लिए ही मिली थी। वह उदास थी पर मेरे लिए, अपने देश और अपनी जाति का ख्याल करके उसने अपनी उदासी अपने दिल के एकाकीपन में ही बन्द रखने की कोशिश की।

"उदास हो शकुन्तला ?" मैंने फिर पूछा।

"नहीं राणा जी, वियोग का दुःख तो होता ही है, पर आप रोकने से रुक थोड़े ही सकते हैं ?"

"बल्कि, शकुन्तला, अब तो मैं अवश्य जाना चाहता हूं। तुझे यहां छोड़ कर जाते हुए मैं बहुत प्रसन्न हूं, आखिर किसी को मेरी इन्तजार तो होगी।"

"और मेरे लिए भी यह युद्ध शेष युद्धों से निराला है, राणा जी। मैं भी रोज रोज युद्ध के समाचार सुनने के लिए उतावली रहूंगी, आपके बढ़ते यश की खबर मेरे लिए जीवन-दान होगी।"

शकुन्तला ने मुझे "गाना" (राखी) बांधा, मेरी तलवार के लिए अपने हाथ से बनाया और काढ़ा हुआ "गात्रा" भेंट किया। नीलकंठ के मस्तक के लिए टीका भी दिया और मेरी ओर प्यार-भीगे नयनों से देखा। आह ! वे नज़रें। उस 'गात्रे' और टीके की भांति उन नज़रों को भी मैंने उपहार जान कर सम्भाला, और आज तक वे तीनों वस्तुएँ मेरे पास हैं, शकुन्तला और उसके प्यार की याद।

× × × ×

अगले दिन सुबह मुझे सरदार जै गुलाल के घर जाने का अवसर मिला। उसके साथ मैंने कूच सम्बन्धी विचार-विमर्श करना था। बैठक में बैठे हम अभी बातचीत खत्म करके हटे ही थे कि महन्ती अन्दर चला आया।

महन्ती जै गुलाल का इकलौता लड़का था। क़द का लम्बा, पर शरीर का भारी। उसका रंग गेहुंवा था और नक्श भद्दे। मैं महन्ती की बाबत कुछ पहले भी सुन चुका था। वह पहले विजयी सेना में नौकर था। साल भर में वह सैनिक जीवन से तंग आ गया। एक सरदार का पुत्र होने के कारण और अपने आपको बहुत योग्य और वीर समझने के कारण वह जल्दी उन्नति की आशा करता था। पर वह मिल न सकी। और तब उसने नौकरी करके क्या लेना था ?

उसने व्यापार पर हाथ आज़माए, पर सफलता न मिली। भाग्य को दोष दिया गया। उसके नक्षत्र खराब थे और अब तक वह अपने नक्षत्र में परिवर्तन की प्रतीक्षा में बेकार था। उसे यकीन हो गया था कि जब तक उसकी किस्मत सीधी न होगी, वह हर कोशिश में असफल रहेगा। "और जब किस्मत ने पलटा खाया," उसने अपने पिता से कहा, "मेरे अन्तःकरण की आवाज़ मुझे बता देगी।"

महन्ती बुरा था, पर समझदार। उसे दूसरे की कमज़ोरियों का ज्ञान बड़ी जल्दी हो जाता था और वह सदा जानता था कि दूसरे की कौन सी जगह दुःखती है ! उसकी हर चोट सार्थक होती थी।

न जाने क्यों, मैं उसकी नाराज़गी का पात्र बना। यह पहली बार थी जब मैं उसे आमने-सामने मिला, किन्तु उसका विद्रोही भाव इतना प्रबल था कि मुझे लगा, जैसे चिर से वह मुझ से घृणा करता हो !

"क्या हाल है आपका राणा कुमार जी," उसने अन्दर आते ही मुझे सम्बोधन किया।

उसका स्वर इतना व्यंग-भरा था और उसका पूछने का ढंग इतना कठोर कि मैं एक ही बार घृणा से भर गया। पर मैंने अपने आपको सम्हाला। अपनी और जै गुलाल की इज्ज़त का ख्याल करते हुए मैंने उसे जवाब न दिया।

"मैं आपको सरदारी मिलने पर बधाई देता हूं, राणा जी।" उसने फिर उसी स्वर और ढंग में कहा। कितना व्यंग था उसके लहजे में; मुझे सरदारी मिले एक वक्त गुजर चुका था।

कभी राणा सवाए सिंह ने मुझे सलाह दी थी कि मैं क्रोध में अपने आपको कभी खो न दूँ। उस समय इस क्रोध से बचने के लिए मुझे बहुत संयम रखना पड़ा था। पर मैं राणा सवाए सिंह के शब्दों का अपमान नहीं करना चाहता था।

"मेहरबानी, महन्ती!" मैंने मधुर स्वर में कहा।

एकाएक उसने लौट कर मेरी ओर देखा।

वह मेरे मधुर स्वर से चौंक उठा था। पर हमारा अहँकार! जो वस्तु हमारी आशा के विरुद्ध निकले, वह चाहे हजार भली क्यों न हो, हमें बुरी ही लगती है! उसकी आंखों में हैरानी के स्थान पर और और घृणा भरती गई।

"आप अति सुन्दर जवान हैं राणा जी," महन्ती ने एक और वार किया।

यह तीसरा वार था और अब मेरे लिए सहना कठिन था। मैं जै गुलाल की ओर देखता हुआ उठ बैठा। जै गुलाल की आँखों में विवशता थी। वह कह रहा मालूम होता था कि महन्ती उसके वश के बाहर है। फिर भी उसने कोशिश की, "महन्ती! तुझे आए गए का मान करना भी नहीं आता? जा चला जा यहां से।"

महन्ती उठ बैठा और जै गुलाल को अपनी घृणाभरी चाल से कुचलता बाहर निकल गया। जै गुलाल ने अपनी नजरों से दरवाजे तक उसका पीछा किया और फिर मुझे सम्बोधन करने लगा, "मुझे क्षमा करना, कुमार जी।"... .."महन्ती—आह—"और फिर वह अपने आपसे कहता गया ....."मनौतियां मानते हुए परमात्मा ने एक पुत्र दिया था, वह भी कुपूत निकला।"

मुझे जै गुलाल पर तरस आया। "आप चिन्ता न करें," मैंने

कहा, "मैं महन्ती की आदतों से वाकिफ हूं।"

मैंने लक्षित किया कि यदि मेरी और जै गुलाल की स्थिति समान न होती तो वह अवश्य मुझे आलिंगन में ले लेता। मुझे सन्देह नहीं कि मन ही मन में वह कह रहा था काश ! तू मेरा पुत्र होता।

× × × ×

उसी शाम महन्ती से मेरी एक और भेंट हुई। रात गुजरने तक मैं काम में व्यस्त रहा था। एक सिपाही ने आकर बताया कि कोई मुझ से मिलने आया है। मैं गया और विशेष रूप से तलवार को अपनी बाईं ओर महसूस किया।

वह महन्ती था।

उसे देख कर जहां मैं चकित हुआ वहां मुझे गुस्सा भी आया। पर समय का ख्याल करते हुए अपने क्रोध पर काबू रखते हुए मैंने पहल न की।

"क्या बात है ?" मैंने पूछा।

"बात...... " वह मुसकराया। व्यंग भरी मुसकराहट। महन्ती की हर अदा, हर ढंग, हर शब्द एक व्यंग्य हुआ करता था। शायद महन्ती का सारा जीवन ही व्यंग्य था।

"महन्ती !" मैंने डांट भरे स्वर में कहा। मैं अभी भी अपने क्रोध की डोरियां कस रहा था।

नाराज न होइए राणा जी ! मैं आपके साथ एक बहुत जरूरी बात करने आया हूं।"

"क्या बात है ?"

"इतनी जल्दी क्यों ? थोड़ा इन्तजार करो।"

"महन्ती !" मैंने ऊंची आवाज में कहा और अपना हाथ तलवार की मूंठ की ओर बढ़ाया। महन्ती एकदम तन कर मेरे सामने खड़ा हो

गया, बलवान शत्रु की भाँति । ऐसा बली महन्ती, चाहे हजार बुरा था, मुझे पहले से कहीं अच्छा लगा ।

"राणा जी," उसने कहा, "आप शकुन्तला को भूल जाइए, शकुन्तला आपकी नहीं बन सकती।"

"बस" मैंने पूछा ।

"बस !" और वह चला गया ।

रात काफी बीत चुकी थी । प्रातःकाल पौ फ़ूटने के पहले हमने कूच कर जाना था । सारे दिन की थकान भी थी पर फिर भी कितनी देर शकुन्तला और महन्ती के विषय में सोचता रहा । महन्ती की घृणा का कारण ज्ञात हुआ । उसके शब्दों का ख्याल आया, पर शकुन्तला और उसके विश्वास में किसी सन्देह की गुंजाइश न थी, अतः मैं निश्चित हो गया ।

× × × ×

सुबह कूच करने का बिगुल बजा । सेना ने गमन किया । नीलकंठ के ऊपर चढ़ा हुआ राणा कुमार सिंह अपने दस्ते के आगे-आगे जा रहा था । सूर्य उदय हो रहा था । प्रकृति में नई ज़िन्दगी ढल रही थी । राणा कुमार सिंह भी फ़ुरसत में न था; वह व्यस्त था अपने आप में सारे गुजरे साल उसकी आंखों में विचार रहे थे । जैसलमेर, अमरावती और देवनगर इसे उस समय बहुत दूर लग रहे थे । पिछले दो दिनों में । सोचने-विचारने के लिए बहुत कुछ था ।

पर जैसे ही सूर्य का गोला सामने आकाश में साकार हुआ, राणा कुमार सिंह ने अपने आपको झंझोड़ा । राजगढ़ उसे निकट प्रतीत होने लगा । भूत भी उससे बहुत दूर न रहा । पर भविष्य अधिक निकट था । उसकी आंखों में एक अनोखी चमक आई और उसने मुसकरा कर चारों ओर सेना की तरफ़ देखा ।

# १६

युद्ध शुरू हो गया।

राजगढ़ की ओर से जितने कम मुकाबले की आशा थी, उससे कहीं अधिक शक्ति से हमारा सामना हुआ। हम उस मोर्चे पर केवल एक हजार जवान, पांच सरदारियों में विभक्त, उप-सेनापति भगवान सिंह की कमाण्ड में थे। राजगढ़ की सारी सेना, अधिक से अधिक दो हजार थीं, न ही अच्छी तरह सिखाई हुई और न ही ठीक से नियन्त्रित। हमें आशा थी कि अधिक लड़ाई-झगड़े के बिना ही हम राजगढ़ पर जल्दी ही कब्जा कर लेंगे और इस तरह सचखंडा की एक भुजा कट जायगी, और न ही उत्तर की ओर से किसी मुसलमानी आक्रमण की आशंका रहेगी।

यही कारण था कि हमने पश्चिमी मोर्चे की ओर सेना देर से भेजी थी। उत्तरी मोर्चे अर्थात् राजगढ़ पर जल्दी अधिकार करना बहुत जरूरी था।

महा-मन्त्री सत्वेन्द्र और सेनापति राम सिंह को यकीन हो गया

लगता था कि महा मन्त्री के प्रयत्नों के कारण मुसलमानों की कोई ताकत राजगढ़ की मदद को न आएगी।

पर जब राजगढ़ की सेना से हमारी पहली मुठभेड़ हुई तो हमें यह जानते देर न लगी कि उसमें आधे से अधिक मुसलमान थे और साथ ही हमारे गुप्तचरों ने खबर दी कि उस समय राजगढ़ की सीमा पर कम से कम पांच सहस्र मुसलमान और इकट्ठे हो रहे हैं। और यह था लाहौर प्रान्त की ओर से विश्वास दिलाने के विपरीत। उसने वचन दिया था कि यदि सवखंडा और विजयपुर या जैसलमेर में युद्ध हुआ तो वह उसमें कोई भाग न लेगा।

सेनापति भगवान सिंह अजीब द्विविधा में पड़ गये! निर्णय करना कठिन हो गया। उधर समूची सेना जैसलमेर की ओर कूच कर चुकी थी। विजयपुर में बहुत थोड़े जवान थे। यदि हम लड़ाई को रोके रखते तो दुश्मन को सन्देह हो जाना था। न जाने वह सारा भेद पाकर हमें घेर लेता। यदि लड़ाई शुरू करते तो भी कठिनता थी; एक और छः का मुकाबला था।

सेनापति ने सब सरदारों की बैठक बुलाई। दो तीन सरदारों की राय थी कि सहायता के पहुंचने तक लड़ाई करनी घातक होगी। मैंने तर्क करके सुझाव प्रस्तुत किया कि नहीं, जितनी देर तक और सेना पहुंचे, उतनी देर तक शत्रु की कमर पर टूटते ही रहना चाहिए। भले ही, मैंने साथ में जोड़ा, कि जब तक अवसर अति लाभप्रद न दिखाई दें, किसी किस्म का और खतरा न सहेड़ा जाय। मुझे लगता था कि हम बिना मदद के ही जीत जाएंगे। मैंने यहां तक भी अनुभव किया कि यदि ये एक हजार आदमी भी मेरे नीचे होते तो मैं शीघ्र ही दो-चार दाँव चला कर वैरी को पछाड़ देता। हाथ पर हाथ रख कर बैठ जाना मुझे अपना, अपने देश और राजपूत जाति का अपमान लगता था। किसी की तुच्छता दिखाना मेरा लक्ष्य नहीं, पर मैं दावे

से कह सकता हूं कि उस समय युद्ध-कला के विषय में मुझसे केवल पांच-सात सेनापतियों ने ही अधिक पढ़ा, सोचा और विचारा होगा। सेनापति भगवान सिंह उनमें से एक थे।

इसके अतिरिक्त मेरा मन मुझे चैन नहीं लेने देता था, मुझे सूझ पड़ने के लिए बार-बार उकसाता था। मुझे यों लगता था कि ऊपर से एक बुलावा आ रहा है, एक आकाश-वाणी कह रही है, "कुमार सिंह," तुम्हारा यही समय है। तुम्हारे सपने पूरे होने का समय आ गया है।" मैंने बड़े ज़ोरदार और प्रभावशाली शब्दों में अपनी चाल का वर्णन किया।

और अन्त में सर्वसम्मति से सेनापति राम सिंह को सेना के लिए एक आवश्यक पत्र भेजा गया। महा मन्त्री सत्येन्द्र को भी सारी विपत्ति का समाचार पहुंचाया गया। और इतनी देर में मेरी राय के अनुसार छोटी मुठ-भेड़ें जारी रहीं।

* * * *

मुसलमानों की एक छोटी सी रियासत फरीदाबाद की सीमा राजगढ़ को छूती थी। लाहौर प्रान्त ने महामन्त्री सत्येन्द्र को खबर पहुंचाई कि उस रियासत के शासक बेग शाह ने लाहौर प्रान्त से सम्बन्ध तोड़ लिया है। इसका भाव यह था कि जो कुछ भी अब बेगशाह करेगा, उसका उत्तरदायी लाहौर प्रान्त नहीं ठहराया जा सकेगा।

और अन्त में पूछ-ताछ करने पर यह बताया कि सारी की सारी मुसलमानी सेना, जो राजगढ़ की सहायता के लिए आई थी, वह बेगशाह की ही भेजी हुई थी।

किन्तु महामंत्री सत्येन्द्र, महा सेनापति रामसिंह और यहाँ तक कि हम सभी भली प्रकार जानते थे कि वह सेना कहाँ से और कैसे आई

है। फरीदाबाद रियासत नहीं थी, एक खिलौना थी; एक बाँसुरी, जिसे बजाने के लिए फूंक लाहौर से लगाई जाती थी। भला बेगश ह, और पाँच हज़ार सिपाही मैदान मे ला खड़ा करे ? उसकी रियासत की आबादी मुश्किल से पन्द्रह-बीस हज़ार थी।

लाहौर प्रान्त की यह राजनीतिक चाल हमारे कुछ सरदारों को झुठलाने का सामर्थ्य अवश्य रखती थी।

और मैं स्वयं भी यह मानने से संकोच नहीं करूँगा, कि निःसन्देह यह खबर अत्यन्त भयभीत करने वाली थी। वैरी सीमा में, अपने घर से मीलों दूर, केवल एक हज़ार जवानों के साथ सात-आठ हज़ार के सन्मुख लड़ने का ख्याल करना कोई सहज नहीं। पर सिपाही के लिए हज़ार आपत्तियों के आगे भी हिम्मत हार देना केवल एक अवगुन ही नहीं, गुनाह है।

* * * * *

समाचार पहुंचने पर बेशक महामंत्री सत्वेन्द्र महा सेनापति और दोनों महाराज अवश्य हैरान हुए होंगे। सचदेव का हमला इतना सख्त साबित हुआ था कि विजयपुर और जैसलमेर, लगता था, गए कि गए। बड़ा कारण यह था कि हमारी सेनाएँ पूरी तरह तैयार नहीं थीं। और सचदेव ने चोरी-चोरी जैसे अपनी सेना को जैसलमेर की धरती पर ला खड़ा किया, इसकी आशा तो क्या, कल्पना तक भी कठिन थी। सचखंडा के सैनिक दस-दस आदमियों के समूह बना कर एक निश्चित स्थान पर एकत्र होने के लिए जैसलमेर में आते रहे और किसी को शक भी न हुआ। सीमा कोई शिविरों की पंक्ति तो थी नहीं कि हर किसी से पूछ ताछ करके जैसलमेर में प्रविष्ट होने दिया जाता। भले ही जैसलमेर के अधिकारी भी असावधानी के उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं किए जा सकते। और इस तरह, जैसा कि देखा जायगा, हमारी

सैनिक स्थिति बहुत आशा-जनक न थी ।

*　　　*　　　*　　　*

हमारी सारी फौज एक जगह जम कर बैठी थी ।

शत्रु द्विविधा में पड़ गया । हमारे इस तरह निश्चल रहने का क्या कारण था ? विजयी सेना सदा आगे बढ़ने के लिए विख्यात थी । अभी तक किसी ने विजयी सेना पर आक्रमण नहीं किया था, केवल उसका हमला सहा ही था । वैरी हमारे निकट आने से भय खाता था, पता नहीं किस समय मुँह की खानी पड़े ? और दूर रहने में भी झिझकता था । क्योंकि यदि इधर लड़ाई शुरू न होती तो सचदेव की सहायता सत्य न होनी थी । सचखंडा की वास्तविक सहायता तब होती थी, यदि राजगढ़ भी सब कठिनाइयों को चीर कर जैसलमेर हमला करता और जैसलमेर की राह में हम बैठे थे । बेगशाह और राजचन्द अपने कल्पित भयों से ही ऐसे भयभीत हुए कि उनकी सेना हमारे पास आ पहुंची । नहीं तो उनका एक मुँह जोर हल्ला हमें घन्टों में बरबाद कर देने के योग्य था और अब की विजय एक सपना होती ।

पर हम ऐसे ही कहते हैं, यदि यह होता और वह न होता । कारण बन जाते हैं, सफलताएँ हो जाती हैं, या मुँह की खानी पड़ती है । यह आधा समय का खेल है, आधा जोर का और इन दो आदर्शों में हज़ारों आदर्श सम्मिलित हैं ।

# २०

मुझे यह उभयपक्षी मौन अच्छा न लगता था। मुझे न दिन को चैन था और न रात को आराम ! यहां तक कि मैं रात को सोते समय वर्दी उतारने से भी झिझकता था। मैं तलवार को हर वक्त अपने साथ लगी महसूस करना चाहता था, मैं युद्ध की ऐसे इन्तजार कर रहा था जैसे प्रेमी किसी प्रेम-मिलाप की !

उस दिन शाम को मैंने शंकरवीर को अपने पास बुलाया। शंकर वीर मेरा सैनिक-अर्दली था। छः फुट लम्बा, रंग का गोरा और बुद्धि का तेज़।

"शंकर वीर, चल आज जरा दुश्मन के पड़ाव का चक्कर लगा आएं," मैंने ऐसे लहजे में ये शब्द कहे, जैसे कि किसी ऐतिहासिक खण्डहर या किसी सैर के स्थान को देखने के लिए जाना हो। उसकी हैरानी उचित थी।

"दुश्मन के पड़ाव का चक्कर ?"

"क्यों, डर लगता है क्या ?"

"डर ?" वह मुसकराया और डर की हंसी उड़ाई। और रात

के पहले मैं और शंकर वीर मुसलमानी वेश में शत्रु के पड़ाव के निकट घूम रहे थे।

हमने देखा कि पांच-छः हजार की बड़ी सेना केवल एक डेढ़ मील घेरे में घिरी पड़ी थी। तम्बू पास-पास तने हुए थे। संतरियों के बीच अन्तर बहुत था और इस अवस्था का हमने पूरा लाभ उठाया। पश्चिम की ओर हल्दी नामक एक नदी बहती थी। हल्दी इतनी चौड़ी तो न थी, पर उसकी गति तेज होने के कारण उसे पार करना कठिन था। सारी की सारी सेना पर एक बड़ा आलस्य बिखरा दिखाई देता था, जैसे सब जवानों ने पोस्त पिया हो। आलसियों की तरह वे इधर-उधर घूम रहे थे, आधे के करीब ढीले-ढाले वस्त्र पहन छोटी-छोटी टोलियों में गप्पें हाँक रहे थे; मुसलमान सिपाही लोटे लिए नमाज की तैयारी में थे। केवल थोड़े से गिनती के, सवार ही हमें उस समय घुड़-सवारी करते दिखाई दिए, और उसमें भी थोड़े नेजाबाजी या किसी और शस्त्र का अभ्यास करते। वहाँ चक्कर लगाते हुए हमने दो सैनिकों को प्रणाम और सलाम भी किया।

मुझे यह लगा जैसे मुसलमान और राजगढ़ वालों का सलूक परस्पर अच्छा नहीं। मुझे अनुभव हुआ कि राजचन्द भले ही मुसलमानों के आने से सन्तुष्ट हो, पर उसके सिपाही बहुत निराश और उदास थे। और मेरा यह विचार शत-प्रतिशत ठीक निकला। उन्होंने हमें स्वयं बताया कि वे इस लड़ाई के पक्ष में न थे।

सिर नीचा किए, बिना नीलकंठ को पुचकारे, या शंकर वीर के साथ बात किए मैं अपने पड़ाव में लौट आया।

*　　　　*

उस रात मैंने सेनापति भगवान सिंह के साथ एक मुलाकात की मांग की उन्होंने मुझे अपने खेमे में बुलाया। काफी रात गुजरने तक

मैं उनको अपने दौरे की वार्ता सुनाता रहा। और फिर एकाएक उनसे तीसरे दिन शत्रु पर चढ़ाई करने की मांग की।

वह मेरे साहस पर चकित भी हुए और प्रसन्न भी। "तू बहुत उतावला है कुमार!" वह मुसकराए। मुझे जरा संकोच हुआ, मेरा सिर झुक गया।

"संकोच न कर कुमार सिंह, मैं तुम्हारे हौसले और सूझ की कद्र करता हूं। कल सुबह मैं स्वयं जांच-पड़ताल करके देखूंगा।"

मैं अपने तम्बू की ओर लौट आया। प्रसन्न, कि मेरी योजना पर सेनापति ने गौर किया है; उदास कि क्यों उन्होंने एक बारगी मेरी बात नहीं मान ली; सन्तुष्ट, कि मैं सेनापति को प्रेरित कर आया हूं; व्याकुल, कि कहीं वह अपना निर्णय मेरी राय के प्रतिकूल न करें।

* * * *

दूसरे दिन सूर्य अभी अस्त हुआ ही था कि सेनापति भगवान सिंह पूर्णतया तैयार घोड़े पर चढ़े मेरे तम्बू के आगे आ खड़े हुए और उन्होंने मेरा नाम लेकर मुझे आवाज लगाई। मैंने देखा कि उनकी पगड़ी और कपड़े धूलि से सने हुए थे। यों लगता था जैसे बड़ा लम्बा सफर करके आए हों।

मैंने प्रणाम किया।

वह मुसकराए।

'सरदार कुमार सिंह, मैं तुम्हारे साथ सहमत हूं। परसों सुबह ही शत्रु पर चढ़ाई की जायगी। मैं तुम्हें तुम्हारी सुन्दर चाल के लिए बधाई देता हूं।"

"सेनापति, विजय होगी!" मैंने मुसकरा कर कहा।

"परमात्मा करे।" वह जाने लगे।

"आप, क्या आप शत्रु के पड़ाव से होकर आए हैं ?" सहसा मुझे यह सन्देह हुआ।

"हां कुमार सिंह, एक पहर रात गए मैंने अपने शिविर को छोड़ा था।"

"आपके दाएं घुटने के पास खून रिस रहा है, सेनापति।"

"हां, यह थोड़ी-बहुत मेरी ही भूल थी। मैं दुश्मन के पड़ाव के बहुत निकट चला गया। रात अन्धेरी थी और इलाका खराब। यह किसी पहरेदार की यों ही हवा में चलाई गोली का निशान है, पर चिन्ता की कोई बात नहीं। घोर अन्धेरे में मेरा अर्दली सोहन भी एक वृक्ष से कन्धा छिला बैठा है," और वह मुसकराते, घोड़े को एड़ी लगा कर चले गए।

थोड़ी देर बाद ही शंकर वीर हांफता हुआ मेरे शिविर में आया। उसके चेहरे पर भय के भयानक चिह्न अंकित थे।

"क्या बात है शंकर . ... ?"

"सेनापति वापिस विजयपुर जा रहे हैं, उनके दाएं घुटने की भीतरी हड्डी टूट गई है।"

सेनापति भगवान सिंह को सिपाही बहुत प्यार करते थे। जो कुछ भी कोई उनके लिए करता था, वह उनसे डरते हुए नहीं, अपितु प्यार की बहुलता में। उनके घायल होने की खबर क्षणों में ही सारे पड़ाव में फैल गई और राजपूतों के दिल कुम्हला गए।

हकीमों की सलाह के अनुसार सेनापति को पड़ाव में नहीं छोड़ा जा सकता था, वे दृढ़ थे कि वह जल्दी से जल्दी विजयपुर पहुंचाए जांय, जहां अच्छे और सयाने हकीम उनका ठीक और योग्य इलाज कर सकेंगे।

कुछ एक अत्यावश्यक कार्य भुगता, दो-अढ़ाई घंटों के अन्दर-अन्दर ही सेनापति विजयपुर की राह पर थे।

# २१

"परसों सुबह शत्रु पर चढ़ाई की जायगी" सरदारों की एकत्रित सभा में मैंने आज्ञा के स्वर में कहा।

"मैं जानता हूं कि आप में से कुछ-एक इस योजना के सैद्धान्तिक तौर पर विरुद्ध हैं और मैं यह भी जानता हूं कि आप में से एक-दो इसका विरोध केवल इसलिए करेंगे, क्योंकि यह योजना मेरी है और क्योंकि मैं उनके सिर पर नेता नियत किया गया हूं।"

"साथियो," मैं विश्वास-पूर्ण स्वर में कहता गया, "आपके ये दोनो गिले उचित हैं। पर इस हमले की सफलता पर सन्देह करने वालों को मैं विश्वास दिलाता हूं कि विजय हमारी होगी। मैं इसका उत्तरदायी हूं। आओ, आज मेरे साथ अपने भाग्य जोड़ो, मेरी हां में हां मिलाओ। आओ, आज हम अन्त की हिस्सेदारी डाल लें। आज मुझ पर विश्वास करके सदा मुझ पर विश्वास करो। मैं आपको कभी नीचा नहीं दिखाऊंगा।"

"यही हमारे प्यारे सेनापति भगवान सिंह की मर्जी थी। उन्होंने

मुझे यह बीड़ा उठाने की आज्ञा दी है और मैं इसे अपना कर्तव्य जान कर स्वीकार करता हूं ।"

"मुझे पूर्ण आशा है कि आप मेरा साथ देंगे, सेनापति भगवान सिंह की चाह को पूर्ण करोगे । समय आ गया है कि हम राजपूत एक मूंठ होकर, एक नेता के आधीन, बिना अधिक चर्चा के युद्ध करना सीखें । वक्त बदल चुके हैं और आ रहे सालों में हमारे सम्मुख संसार की अच्छी से अच्छी सेनाएं होंगी । हमें अपने आप पर काबू पाना होगा, लड़ाई के ढंग बदलने होंगे और नयी चालें सोचनी होंगी । यदि हमने समय के साथ चलने का कष्ट न किया, तो हमारा भविष्य बड़ा भयानक होगा ।

"आओ, आज इस नवीनता की पहल करें । मैं आपको और राजपूत संसार को वह कुछ दूंगा, जिसकी हम सबको आवश्यकता है । मैं फिर कहता हूं कि विजय हमारी होगी । आपके सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं ।"

सेनापति भगवान सिंह सेना की सरदारी मुझे सौंप गए थे । जाने से पहले उन्होंने सब सरदारों को अपना निर्णय सुनाया था :

"यह योजना राणा कुमार सिंह की थी और मैं चाहता हूं कि राणा कुमार सिंह इसे सिरे चढ़ा कर दिखाए । राणा कुमार सिंह जवान है, पर मुझे विश्वास है कि इसके नेतृत्व का आप अवश्य मान करेंगे । मुझे उस मस्तक पर एक उज्ज्वल भविष्य स्पष्ट नजर आता है । आज वह आपको मात दे गया है । आप ज़रा भी ख्याल न करें, मैं जानता हूं कि परसों वह मुझे छोड़ जायगा, और मैं भी अफसोस न करूंगा ।

"विजयपुर की परम्पराओं को धब्बा न लगाना । स्वार्थता इस समय केवल आपकी भी पीछे छोटी सी सेना को ही नहीं, विजयपुर और जसलमेर दोनों को बरबाद कर देगी ।"

निम्न पत्र उन्होंने महा सेनापति राम सिंह और महामन्त्री सत्वेन्द्र को भेजा:—

"मेरे भाग्य में इस बार विजयी सेना की सेवा करना न लिखा था। चढ़ाई से पूर्व दुश्मन की परिस्थितियों का अनुमान लगाते हुए मैं बन्दूक की गोली से घुटने पर घायल हो गया हूं। हकीम कहता है कि कम से कम समय एक महीना है जब कि मैं राजी हो जाऊंगा! ······आशा करता हूं, आप मेरे मनोभावों का अनुमान लगा सकेंगे।

"मैं आपसे क्षमा मागूंगा कि आपकी आज्ञा के बिना मैंने अपनी जगह सरदार कुमार सिंह को सम्भाल दी है। परिस्थितियों की मांग थी और यही निर्णय आवश्यक था। मुझे आशा है कि मेरे चुनाव पर आप भी प्रसन्न होंगे। एक-दो दिनों के अन्दर, यदि परमात्मा ने सहायता की, आप सरदार कुमार सिंह का नाम विजयी सेना के हर सिपाही के मुंह मे सुन सकेंगे।"

इसके विपरीत भी जैसा कि मुझे डर था, कुछ सरदार नाराज़ हो ही गए। मैं उनके सिर दोष नहीं लगाता। उन्होंने अपनी सारी उम्र विजयी सेना में बिताई थी। और मैं परसों विजयी सेना में भर्ती होकर कल सरदार बन गया था और आज सेनापति। पर जैसे मुझे यह आशा थी कि वह नाराज़गी प्रकट करेंगे, वैसे ही मुझे यह भी आशा थी कि मैं अन्त में उन्हें अपने अधीन एक संगठन में संगठित कर लूंगा। वैसे ही हुआ। सिवाए सरदार प्रफुल्लित कुमार के सब सरदार अन्त में मुझसे सहमत हो गए। उनमें सरदार देव राम भी सम्मिलित थे। वही देव राम जिसके पास मैं पहले—पहल सिपाही भर्ती हुआ था।

सरदार प्रफुल्लित कुमार को मैंने उस समय पड़ाव छोड़ जाने की आज्ञा दी। उसकी सरदारी के सिपाहियों को मैंने अन्य जत्थों में

विभक्त कर दिया। मैंने आक्रमण की तैयारी की आज्ञा दी। और फिर कुछ समय के लिए मैं एकांकी रह गया।

तत्क्षण विचारों की लड़ियां टूट गई। शीघ्रता में किए फैसलों पर विचार करने का अवसर मिला। इरादों और विश्वासों की दीवारें हिलने लगी। 'यदि' का भयानक शब्द अपनी शंकाओं की सेना के साथ मेरी आशाओं की पिटारी में आ घुसा और सारे सुन्दर चित्र इधर-उधर बिखेरने शुरू कर दिए।

मैं घबराया..... ..।

यदि..........................

यदि अन्त मेरे विचारों और आशाओं के विरूद्ध हुआ? यदि मैंने अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए एक हजार राजपूती सेना को मरवा दिया? यदि परसों के युद्ध में हम असफल रहे, तो उसका असर पश्चिमी मोर्चे पर क्या पड़ेगा? परसों की असफलता लड़ाई का भले ही सारा पैंतरा बदल दे।

पर धीरे-धीरे आशा के गगन पर से भय और शंका के एकत्र हुए बादल बिखरने लगे। आकाश साफ हो गया। मैंने आंखें मलीं। दृष्टि टिका कर देखा। वही लह लह करते भविष्य के सपने थे। वही खिली हुई, चहकती मुसकराहटें!

विजय विश्वसनीय थी। अपनी कल्पना में मैं परसों शाम राजगढ़ में पहुंच चुका था और उसके अगले दिन ही मैं विजयी सेना का झंडा झुलाता फरीदाबाद की सीमा तक भी पहुंच गया था और फिर फरीदाबाद——लाहौर...............?

मैंने सोचा, राजचंद का फैसला तो मैं जल्दी ही निपटा लूंगा, पर जीत के बाद मुसलमानों से फैसला करना मेरी शक्ति के बाहर होगा। महा मन्त्री सत्वेन्द्र ही ऐसे आवश्यक मामले में हाथ डाल सकते हैं।

ये विचार प्रकट करते हुए मैंने एक पाती सेनापति राम सिंह और उसकी प्रतिलिपि महा मन्त्री सत्वेन्द्र को भेजी। मैंने विश्वास पूर्वक कहा कि अगले तीन दिनों के भीतर-भीतर बिना आ रही नई सेना की सहायता के, मेरे नेतृत्व में विजय सेना फरीदाबाद में होगी। मैंने प्रार्थना की कि महा मन्त्री राजनीतिक समस्या को सुलझाने के लिए स्वयं मेरे मोर्चे की ओर दौरा करें।

यहां मैं हल्दी की लड़ाई की पूरी और लम्बी चर्चा नहीं करूंगा। राजगढ़ और सचखंडा से इस युद्ध की पूरी कहानी मैंने अपनी पुस्तक 'जीवित विजयपुर'' में खोल कर लिखी है। पर उसमें मैंने अपने सेनापति बनने के विषय में बहुत कुछ नहीं लिखा था। कारण—क्यों कि वह उस महान—युद्ध की कहानी थी, मेरी अपनी नहीं; और अब यह मेरी कहानी है, पूर्ण युद्ध की नहीं।

* * *

अगले दिन सूर्य की प्रथम रश्मि ने अभी पूर्व की पहाड़ियों को नहीं छुआ था कि विजयी सेना दो हिस्सों में शत्रु पर टूट पड़ी। चढ़ाई के समय मेरे जवान इतने बिखरे हुए थे कि यदि शत्रु वापसी हमला करता तो हमें पछाड़ना उसके लिए एक चुटकी का काम होना था, पर मैं जानता था कि न तो वह वापसी हमला करेगा और न ही मैं और मेरी चाल उसे यह कुछ करने की मुहलत देगी। सारांश यह कि दो–चार घंटों के अन्दर–अन्दर शत्रु अपने पांवों पर था और उसका मुंह पीछे की ओर। शाम तक, मेरे प्रण अनुसार हम राजगढ़ की राजधानी में थे। विजय–ध्वज राजचंद के महल पर झूल रहा था।

* * *

हर सिपाही के होंठों पर मेरा नाम था। महामन्त्री सत्वेन्द्र वहां पहुंचे और मुझे देख कर और मेरी सफलता की वार्ता सुन कर उन्होंने

प्रसन्नता के आँसू ढरकाए । महा सेनापति राम सिंह ने वधाई का पत्र लिखा । उसके ये शब्द मुझे कभी नहीं भूलेंगे, उन्होंने लिखा था "कुमार सिंह, मैं तुझे अपने दाएं हाथ देखना चाहता हूं।" महाराज जय सिंह की ओर से अपने हाथ से लिखा मान-पत्र प्राप्त हुआ। महाराज सुन्दर कुल ने भी मुझे यही सम्मान प्रदान किया। सेनापति भगवान सिंह ने अपने बिस्तर से ही एक लम्बा-चौड़ा प्यार भरा पत्र भेजा । वह पत्र मैंने आज तक भी सम्भाल कर रखा है। और कई बार उसे पढ़ कर मैंने सुख प्राप्त किया हैं ।

यह कांड लिखने के समय वे सब मान और प्यार के पत्र मेरे सामने हैं और यों लगता है कि मैं अभी ही हल्दी की लड़ाई जीत कर इन पत्रों का अधिकारी बना हूं। इन सारे मान और प्यार के पत्रों में एक छोटी सी, सूक्ष्म चिट्ठी शकुन्तला की थी । प्यारी शकुन्तला की'····।

"कुमार जी, हल्दी की विजय की खबर सुन कर······।···प्यारे कुमार जी······

कुमार जी··· ··

आपकी—

शकुन्तला"

तीव्र और बेकाबू हुए प्यार की पानी को मैंने बड़ी देर तक अपने सीने से लगाए रखा।

ऐसा प्रतीत होता था कि रात सोकर उठने के बाद मैं भारत में दूसरा कर्ण प्रसिद्ध हो चुका हूं।

# २२

अभी मैं राजगढ़ ही में ही था कि सेनापति राम सिंह का एक आवश्यक निमन्त्रण मेरे पास पहुंच गया। वह शीघ्रातिशीघ्र मुझे जैसलमेर बुला रहे थे। हाथ में जो काम-काज थे, उनसे फुरसत पाकर मैंने जाने की तैयारी की और यह भी निश्चय किया कि जाते हुए विजय नगर में भी एक रात काटता जाऊंगा। एक तो विजय नगर के लिए दिल उदास हो गया था और दूसरा, शकुन्तला की याद भी सताती रही थी। यह ही नहीं, स्वभावतः सेनापति की हैसियत में विजयनगर की धरती पर पांव धरते हुए मुझे एक और विचित्र सन्तोष और प्रसन्नता की प्रतीक्षा थी।

मैं विजय नगर पहुंचा।

विजय नगर में मेरा सुन्दर स्वागत किया गया। युद्ध शुरू होने के कारण भले ही शहर मे रौनक की कमी थी, पर फिर भी वहां के निवासी काफी थे और विजय नगर के निवासियों में दिल था। वे जीना जानते थे। भले हा वे मैदान में लड़ कर देश की सेवा नहीं कर सके थे, पर देश और देश के वीरों को प्यार और उत्साह अर्पण

करने के लिए वे बहुत उतावले थे। विजय नगर में अपना आदर सम्मान देख कर मैंने महसूस किया कि ऐसे देश और ऐसी जनता के लिए अपने प्राण निछावर कर देना भी मंहगा नहीं।

स्वयं महामन्त्री, नगर के अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों के साथ, मुझे जयसिंह द्वार पर लेने के लिए आए, और नगर का हर बड़ा-छोटा पुरुष-स्त्री मुझे 'स्वागतम्' कहने के लिए जमा था। बड़ी विजय के बाद सब सेनापतियों के सम्मान में हुए समागम से कहीं बढ़ कर, आज तक, मुझे इस एकाकी 'स्वागत' की याद आकर्षित करती है।

*　　　*　　　*

इस आदर और कीर्ति के भार तले, जैसा कि स्वाभाविक था, मैंने दबा-दबा महसूस किया। शकुन्तला के साथ में मैं एक बार फिर हल्का महसूस करना चाहता था। यह प्यार का चमत्कार है। इसकी उपस्थिति में संसार की और सब स्थूल वस्तुएं और स्थूल वरदान पीले पड़ जाते हैं। प्यार के आगे संसार की कोई और वस्तु गौरव और महत्व नहीं पा सकती।

मुझे आवश्यकता थी प्रेमपूर्ण सहानुभूति की। मैं फिर अपने आप में आना चाहता था। सेनापति कुमार सिंह और राणा कुमार सिंह से मैं केवल अवगुणों और कमज़ोरियों से भरा कुमार बनना चाहता था।

शकुन्तला मुझे जयसिंह द्वार पर लेने तो आई थी, पर जब मैंने उससे एकान्त मिलन का अवसर ढूंढा, मेरा जी मुरझा गया। उसके......शकुन्तला के हाथ खाली थे। सारी सुबह नगर-निवासियों के हाथों से मेरे गले को सुशोभित करती जयमालाओं के विपरीत भी मुझे अपना गला खाली-खाली लगा। सारी विजय और विजय की

कहानी पीछे पड़ गई। हल्दी का युद्ध एक पुरानी घटना लगती था। शकुन्तला के पास मेरे लिए कोई जयमाला नहीं थी ?

"मैं आपको अपनी सफलता पर बधाई देती हूं।" उसने मुसकार-कर कहा, पर मुसकाराहट की असली प्रफुल्लता मुझे समाप्त हो गई दिखाई दी।

"शकुन्तला, क्या हो गया तुझे ?" एक बार मैंने विह्वलता में उसे अपने निकट खींच कर कहा, पर उसका उत्तर इतना कठोर था कि मेरी वह तीव्रता अन्तिम सिद्ध हुई।

'कुछ भी तो नहीं——कुमार जी," उसने कहा और वह मुसकराई भी, पर——नहीं——नहीं !

मैं समझ गया ! मैं जान गया ! मैं बच्चा नहीं था ! और इस प्यार और न प्यार की समस्या को कौन प्रणय-जीवी समझ न सकेगा।

प्यार के झिलमिलाते शीशे में तो अति सूक्ष्म और छोटी वस्तुएं, अति नर्म निहोरे, अति सूक्ष्म इच्छाएं और भाव बड़े-बड़े होकर दीखते हैं और शकुन्तला की कठोरता तो इतनी छोटी और सूक्ष्म थी भी नहीं।

मेरी आंखों के आगे से गुजर गए मेरे बचपन और चढ़ती जवानी के दिन ! वे सब मित्र जो बने और बिछुड़ गए, वे सब साथ जो मिले और छूट गए, पिता जी याद आए, राहू याद आया, राहू से अन्तिम भेंट की याद आई। प्रेम-पराजयों में अपने पहले बिछुड़े प्यारे साथियों की लालसा भी कितनी प्रबल हो जाती है।

मुझे याद आया—राम सिंह, मेरे बचपन का मित्र और मेरा प्यारा, अति प्यारा नीलकंठ। पृथ्वीसेन और चितरंजन और चितरंजन भी मुझे आलिंगन करने आए, पर उनके आलिंगन भी निर्बल मालूम दिए। राणा सवाए सिंह और माता कान्ता का प्रेम कुछ सहारा बना, पर बे-आसरा हो जाने के डर से ग्रसित !

सब के अन्त में, पर सबसे अधिक तीव्रता से मेरी भुजाएं, मेरे शरीर, मेरे ख्यालों और मेरे दिल-दिमाग पर फैली रोहिणी मुझे वास्तव में हिला गई । रोहिणी, रोहिणी, मैं अपने मन में कूक उठा रोहिणी ! पर रोहिणी दूर थी, बड़ी दूर थी, बड़ी दूर !!!

पर यह शकुन्तला मेरे इतने निकट होकर भी उतनी ही दूर थी । मेरा जी भर आया और मेरे नयन छलक आए । कल का यश, सुबह की आवभगत बड़ी हास्यास्पद लगने लगी । मुझे यों देख कर आखिर शकुन्तला के प्रेम ने जोर मारा । अन्तत वह मुझ से प्यार करती थी । मैंने न तब सन्देह किया था, न अब करता हूं ! मैंने देखा, वह पिघल रही थी । मैंने देखा, वह एक ही बार विह्वल हो गई । मैंने जान लिया कि प्यार तीव्रता में वह अभी बेसुध हो जायगी हां एक बार अन्तिम बार, उसने मेरे वक्ष का आश्रय ढूंढा और उसके अश्रु बड़ी देर तक मेरे चोले को गीला करते रहे । आखिर वह उठी और उसने कहा, "कुमार जी, मुझे भूल जाओ । मैं घर से प्रण करके आई थी कि आपके आगे कमजोर नहीं बनूंगी, पर आपके प्यार की शक्ति अथाह है ।"

और वह सिसकियां भरती कहती गई, "मुझे अफसोस है कि मैंने आपको दुःख पहुंचाया । यह मेरा मन्द भाग्य है पर...मेरे स्व . ...," मैं जानता हूं कि वह स्वामी कहते २ रुक गई थी, "पर सच समझना कि मैं नहीं जानती थी, नहीं जानती थी । यह सब कुछ मेरी शक्ति से बाहर है । आह, मैं नहीं जानती थी ।"

पिछले दो पद जैसे उसने अपने आपको कहे ।

फिर वह बहुत दृढ़ होती नजर आई । "हां कुमार जी, मैं नहीं जानती थी, नहीं तो मैं कभी आपके निकट न आती । कुमार जी, महन्ती हमारे सारे घर को मसल सकता है, यदि वह चाहे तो, और

मैंने अपने घराने के लिए अपनी आहुति देने का निश्चय किया है .. आपके बिना मैं जीवित होती हुई भी मुर्दा होऊँगी, और आपने भी यही समझना। जानना कि मैं इस संसार में नहीं हूं। कुमार जी, समझना कि मैं इस संसार में नहीं......! मैं......"

वह बात समाप्त किए बिना ही लालसा भरी एक दृष्टि मुझ पर डाल कर लौट पड़ी और चली गई। मैं उसे रोक न सका जैसे मैं वर्षों पूर्व रोहिणी को रोकता र भी नहीं रोक सका।

* * * *

महन्ती और देवराम के घराने का क्या रहस्य था, मैं आज तक नहीं जान सका। शकुन्तला के व्यवहार से मैं जान गया था कि अब हम कभी इकट्ठे नहीं हो सकते। उसे मजबूरी अवश्य थी पर वह मजबूरी उसके दिल, दिमाग और शरीर में यों रच गई थी और इस मजबूरी की प्रतिक्रिया इतनी तीव्र हुई थी कि वह सचमुच ही सारी दुनिया की ओर से ठंडी हो गई थी। और अब मैं उसके लिए शेष मनुष्यों में से एक था।

यदि मेरे पास समय होता तो मैं शकुन्तला की गहरायों को छेड़ता। और मेरे दूसरी बार वहां लौटने पर भी वह वहां होती तो मैं उसे अपनाने की कोशिश करता और उसे अपने साथ और प्यार की उष्णता से बदल लेता, पर यह न हो सका। मेरे विजय नगर लौटने तक वह अपने मामा के पास हरियाना जा चुकी थी और वहां ही बाद में उसका विवाह एक व्यापारी से हो गया।

वाह शकुन्तला। कैसे तू मेरे जीवन में आई और कैसे तू चली गई। क्या ऐसे भी हो सकता है? मैं कई बार अपने आपसे पूछता रहा हूं।............?

जैसे शकुन्तला की स्मृति सदैव मेरे साथ रही है, वैसे ही मेरी

शुभकामनाएं सदा शकुन्तला के साथ रही हैं और आज भी मैं उसकी चिर-प्रसन्नता के लिए प्रार्थना करता हूं।

*　　　*　　　*

उस सन्ध्या मैं बहुत उदास था, मेरा दिल करता था कि मैं उसी समय विजय नगर छोड़ जाऊं। मेरे लिए सब कुछ पराया हो गया था। वही नगर जहां सुबह मुझे लगभग चार-पांच सौ जयमालाएं पहनाई गई थीं; शाम तक सुनसान हो गया लगता था।

आखिर इस बेचैनी से तंग आकर मैंने उसी रात चलने का फैसला कर लिया। साथियों को सन्देश भेजने के लिए शंकर वीर को बुलाया। वह अभी घर से निकला न था कि महामन्त्री का निमन्त्रण आ गया। वह मुझसे रात को भोजन के बाद मिलने के इच्छुक थे!

महामन्त्री मुझे मिलने के इच्छुक थे और वह भी अपने घर!

अभी कोई विरला नेता या सेनापति ही महामन्त्री को उनके घर मिला था। उनका जीवन बहुत एकांकी था। महामन्त्री के निजी मित्र बहुत थोड़े थे, भले ही उनको एक बार मिलने के बाद आदमी अपने आपको उनका मित्र मानने लग जाता था।

जितना ही मैं पहले उदास था, उतना ही मैं हैरान हुआ। क्या इसका सम्बन्ध मेरे पिता जी से तो नहीं? मेरे अन्तःकरण ने कहा। मैं महामन्त्री को मिलने के लिए उतावला हो रहा था। मुझे विश्वास था कि महामन्त्री से एकान्त में चार बातें कह कर मैं उनकी अपने और पिता जी के विषय में प्रतिक्रिया को अवश्य जान लूंगा। भले ही यह सदा मेरे मन में उठा करता था कि महामन्त्री मेरे पिता जी के दोषी नहीं हो सकते। उनके साथ एक भेंट की सदा इन्तजार करने के विपरीत भी मैं बड़ा हैरान हुआ।

अन्धेरा गहरा हो चुका था, जब मैं उन के घर पर पहुंचा।

उनका घर और रहन-सहन बहुत सादा था । केवल अपनी विधवा बहिन के साथ वह वहां रहते थे । उनकी पत्नी उनने अन्तिम बच्चें समेत उसके जन्म के समय ही परलोक सिधार गई थी । उनकी दोनों लड़कियां विवाहित थीं । एक महाराजा बलेश्वर के कुमार के साथ और एक वहां के बड़े व्यापारी के साथ । परमेन्द्र जैसा कि पहले ही बताया है, पिता जी के विजय पुर छोड़ने के बाद जल्दी ही चल बसा था । और यही था महा मन्त्री का सारा परिवार ।

दरबान ने मेरा स्वागत किया और बताया कि महामन्त्री मेरी प्रतीक्षा करते हुए दो बार स्वयं बाहर के दरवाजे तक देखने आए थे । जब मैं कमरे में प्रविष्ट हुआ, तो महा मन्त्री हाथ में एक पुस्तक लिए बैठे थे । "आओ कुमार सिंह" उन्होंने उठ कर मेरा स्वागत किया और अपने पास ही बिठा लिया ।

"कहिए, क्या आज्ञा है ?" मैंने सविनय पूछा ।

"कोई विशेष बात तो नहीं, कुमार सिंह । मैंने सोचा कि तुम आज विजय नगर में अकेले महसूस न करो ।"

मैंने झिझकते २ कहा, "आपने मुझे बहुत मान बख्शा है ।"

पर मैं मन में जानता था कि कोई विशेष बात है, महा मन्त्री मुझे ऐसे ही बुलाने वाले नहीं । और उनके गम्भीर मिजाज से कुछ ऐसे ही प्रतीत होता था । मैंने महा मन्त्री को कभी पहले इतने निकट से नही देखा था । यह अवश्य सुना हुआ था कि उनके सामने और उनकी ओर देख कर उनसे बात करने की शक्ति कोई नहीं रखता । उनकी दृष्टि इतनी प्रभावशाली थी ! और मैंने इन शब्दों की सच्चाई उनके पास बैठ कर प्रत्यक्ष महसूस की । मैंने सोचा कि मैं किसी भी तरह उनसे पिता जी के विषय में कुछ पूछने का साहस न कर सकूंगा ।

हम कुछ देर चुप बैठे रहे और एकाएक महा मन्त्री ने मेरी ओर दृष्टि टिका कर कहा :

"कुमार सिंह।"

"जी,"

"आप सरदार मान सिंह के सुपुत्र हैं ?"

'जी, महामन्त्री जी।"

और फिर वह मेरी ओर देखते रहे। उनकी दृष्टि इतनी प्रबल थी कि विशेष जोर लगा कर मुझे अपने आपको सम्भालना पड़ा। कितनी देर फिर चुप छाई रही। महा मन्त्री कुछ सोचते रहे और आखिर उन्होंने कहा, "सरदार मान सिंह महान् पुरुष था कुमार सिंह, और महान् देश भक्त......।"

मैं पिता जी की प्रशंसा पर प्रसन्न हुआ।

"और तू भी" उन्होंने मेरी पीठ पर हाथ रख कर कहा "अपनी मिसाल आप है, कुमार सिंह। तुम्हारे कारण कभी भारत को नीचा नहीं देखना पड़ेगा।"

ये शब्द कुछ इस तरह सोच कर कहे गए थे कि भेंट लम्बी करने का अब कोई कारण नहीं दिखाई देता था। मुझे प्रत्यक्ष नजर आया कि अब मुझे जाना चाहिए। मैं उठा, नमस्कार किया, धन्यवाद कहा और लौट आया।

रहस्य और भी रहस्यमय हो गया। यदि मैं पहले हैरान नहीं था, तो अब ज़रूर हुआ। महा मन्त्री, उनके प्रश्न, उनके प्रभाव, उनका स्वभाव सभी मेरी समझ के बाहर थे। परमेन्द्र मेरे पिता जी का विरोधी रहा हो, पर महा मन्त्री के दिल में पिता जी के लिए आदर के अतिरिक्त और कुछ न था।

और फिर हमारी यह नाटकीय मुलाकात! उनके मन में होती

कोई खींचतान जिसे मैं भली प्रकार पहचान न सका।

मेरे हृदय में महा मन्त्री के लिए अधिक आदर पैदा हुआ, आदर में कुछ श्रद्धा मिली और श्रद्धा में कुछ प्रेम भी।

*　　　*　　　*

दूसरे दिन पौ फूटने के साथ, जिस समय में घोड़े पर चढ़ा हुआ जैसलमेर की ओर जा रहा था तो मैं खुश होने से कहीं दूर था। परसों मैं, हल्दी की विजय में फूला नहीं समाता था, परसों ज़मीन मेरी थी, आकाश मेरा था; परसों मैं राजपूत-जगत का स्तम्भ था और मध्य भारत का सबसे महान योद्धा; परसों कीर्ति मेरी थी, यश मेरा.......और आज, आज ये सब दूर की बातें थीं। मैं बेचैन था, उदास था, खिन्न था।

आह! खुशी और गर्मी का फैलाव कितना हास्यास्पद है!

२३

सचदेव जैसलमेर की राजधानी की ओर पच्चीस मील बढ़ आया था। उसने आक्रमण का स्थान बड़ी चतुराई से चुना था। जिस स्थान पर वह अब पहुंच चुका था, उससे अमरावती केवल पचपन मील दूर रह जाती थी। वह अब तक जैसलमेर की सेना को पर्याप्त हानि पहुंचा चुका था। जैसलमेर में थोड़े-थोड़े करके भेजे आदमी एक नियत दिन सभी सतीपुर में इकट्ठे हो गए। जैसलमेर सेना की चौकी को भागना पड़ा और दूसरे दिन सचदेव अपनी बड़ी सेना के साथ सतीपुर पहुंच गया। सतीपुर सचखंडा की सीमा से बीस मील था।

सचदेव की चाल राजपूतों के लड़ाई के नियमों से तो प्रशंसनीय न थी, पर सैनिक-दृष्टिकोण से मैं सचदेव की प्रशंसा करने से न रह सका। मैं स्वयं युद्ध-कला को नये पैरों पर खड़ा करने का इच्छुक रहा हूं। भले ही राजपूती खून मेरे में भी प्रबल है और ललकार कर लड़ना और लड़ कर मार देना या मर मिटने के सिद्धान्त की मैं कद्र करता हूं, पर फिर भी मैं प्रतिक्रियावादी नहीं हूं। मैंने

प्राचीन युद्ध-कला को सूक्ष्मता से पढ़ा है। महाराजा विक्रमादित्य और चंद्रगुप्त ने इस कला को शिखर पर पहुंचा दिया था और अब जब मैं मुसलमानों की युद्ध-रीति की ओर देखता हूं, तो भी हम पर उनकी प्रवीणता प्रत्यक्ष है। सचदेव की नयी चाल ने मुझे अवश्य प्रसन्न किया, पर मुझे अफसोस है कि सारे युद्ध में सचदेव पहले सी बुद्धिमत्ता न दिखा सका और उसने रंग के अपने कई पत्ते भी यों ही गंवा दिए। मुझे खेद है, क्योंकि सचदेव में अपनी टक्कर का सेनापति देखता था और अपनी टक्कर के दुश्मन से लड़ने की मेरी चाह बड़ी प्रबल थी, और है।

खैर, जब सचदेव जैसलमेर में पच्चीस मील बढ़ आया तो उसे रुकना पड़ा। विजयी सेना और जैसलमेर की सेना उसके सम्मुख आ डटी थी और वह, मेरे ख्याल में, राजगढ़ से विजय की खबर की प्रतीक्षा करने लगा। इधर सम्मिलित सेना भी किसी अच्छे अवसर की प्रतीक्षा कर रही थी।

अन्त में राजगढ़ के मोर्चे का समाचार दोनों पक्षों के पास पहुंचा और इस समाचार के साथ–साथ पहुंचा मेरा यश! सम्मिलित सेना के हौसले क्षण भर में ही बढ़ गए और जवान युद्ध के लिये आतुर हो गए। सचदेव और उसकी सेना को इस समाचार से बड़ा धक्का लगा, पर फिर भी वह अभी बहुत तगड़ा था!

आखिर एक सुबह, सूय–किरणों ने भी मुझे शेष सेना के साथ पश्चिम-दक्षिणी मोर्चे पर 'स्वागत' कहा। मैंने देखा कि मैं स्वयं वहां पहुंचने के बहुत पहले पहुंच चुका था। कोई बिरला जवान ही ऐसा होगा, जो मेरा नाम न जानता हो! दोनों प्रजापतियों और दोनों सेनापतियों ने मुझे आगे आकर मिलने का सौभाग्य प्रदान किया। महा सेनापति राम सिंह ने मुझे मिलते ही कहा, "बधाई, कुमार सिंह मुझे आपकी सफलता ने बहुत प्रसन्न किया है।"

एक-दो दिन मैं अपनी और शत्रु की स्थिति की छानबीन करता रहा। मेरे जाने से कुछ समय पूर्व एक बड़ी मुठभेड़ दोनों सेनाओं के मध्य हुई थी, उसका भी हाल सुना और मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि इसी मोर्चे पर, इसी जगह लड़ाई लड़ने में सचदेव को अवश्य ही कई लाभ थे। जमीन, रसद पानी और मुसलमानी सहायता।

क्योंकि यह साफ ही पता चल गया था कि लाहौर प्रान्त चोरी-चोरी इधर ही मुंह काला कर रहा है। वह पहले ही प्रचुर युद्ध-सामग्री सचदेव को पहुंचा चुका था और सुना गया था कि उससे दोगुणा सामान रास्ते पर था।

काश ! मैं लाहौर प्रान्त से दो-दो हाथ कर सकता !

मैंने फैसला किया कि सचदेव को जैसलमेर में नहीं, सचखंडा में पराजित करना उचित होगा और सुगम भी। मेरी सलाह थी कि विजय नगर की पूर्व-दक्षिणी सीमा की ओर से सचखंडा पर चढ़ाई कर दी जाय, और दूसरे मोर्चे का प्रारम्भ किया जाय।

लाचार सचदेव को अपनी राजधानी बचाने के लिए सचखंडा लौटना पड़ेगा और हर हालत में उसका चित्त दोनों ओर बंट जायगा। जैसलमेर-मोर्चे के नये मोर्चे के बीच नब्बे मील का अन्तर होगा और स्पष्ट था कि सचदेव के लिए लड़ाई सम्भाल सकना कठिन हो जाएगा। और न ही लाहौर प्रान्त की सहायता इतनी दूर आसानी से पहुंचाई जा सकेगी।

दोनों सेनापतियों और महाराजाओं के सामने मुझे अपनी मूल से नयी राय रखते समय संकोच हुआ, पर मैं अपने आपको यत्न करने पर भी रोक न सका।

यह मेरे आचरण की एक विशेषता रही है; जिस वस्तु या राह को ठीक समझता हूं, उसकी स्थिति और पूर्ति कितनी भी कठिन या

हास्यास्पद क्यों न हो, उसे दृढ़ करने या उसे व्यावहारिक जामा पहनाने से मैं नहीं झिझकता।

इस सुझाव का असर मैंने देखा, सेनापति राम सिंह और दोनों महाराजाओं पर अच्छा पड़ा, पर जैसलमेर के सेनापति कंजीवन ज़रा खफा हुए। "पहले सचदेव ने बड़ी ओछी सी बात की है और अब सेनापति कुमार सिंह ने अपनी ही एक नयी चाल निकाली है। राजपूती सिद्धान्तों को मिट्टी में मिलाया जा रहा है!" उन्होंने कहा।

मैंने इतिहास में से उदाहरण देकर और अनेक तर्क प्रस्तुत करके अपनी राय की पुष्टि की और विशेषतः उनसे भविष्य में देखने की विनय की, पर सेनापति कंजीवन न माने और मै उनको दोष भी नहीं देता। मेरी राय वास्तव में ही नवीन थी, सचदेव की चाल की तरह।

अभी मेरी माँग पर अन्तिम निर्णय नहीं हुआ था कि महा मन्त्री सत्वेन्द्र वहां पहुंच गए। उनसे भी विचार विमर्श हुआ और वह इस सुझाव के पक्ष में मुसकराए और इसके बाद फैसला करने मे देर न लगी। राजगढ़ की ओर से लौटती आधी सेना जिसकी गिनती लगभग अढ़ाई हज़ार थी, मुझे दे दी गई और मैं नया यश कमाने के लिए नीलकंठ को एड़ी लगा कर चल दिया।

× × ×

सचखंडा पर चढ़ाई का समाचार सचदेव को एक बाण की तरह चुभा। उसके पांव तले से ज़मीन निकल गई। उसने वह भूल की जो कि समझदार सेनापति को कभी नहीं करनी चाहिए। उसने अपनी सेना को एक जैसे दो भागों में बांट दिया। अच्छी तरह जानते हुए कि उस हालत में उसके अधीन शेष सेना सम्मिलित सेना के सम्मुख केवल आधी रह जाती है।

जिस समय मुझे यह समाचार मिला, मुझे युद्ध जीत लेने की खुशी तो हुई, पर तन मन और दिमाग का पूरा ज़ोर लगाकर लड़ने के अरमान के पूरा न होने का दुःख भी हुआ। और फिर मेरे सम्मुख लड़ने के लिए चुना गया सेनापति राम कमाल। वह वास्तव में ही लाल बुझक्कड़ निकला। सीमा पर या किसी और अच्छी जगह मेरी प्रतीक्षा करने के स्थान पर उसने अपने हिस्से की सेना को तीन हिस्सों में बांट दिया और मुझ पर तीन ओर से आक्रमण करने की आज्ञा दी। पर कोई एक दिन नियत न किया, कोई इशारा न चुना। एक दूसरे को खबर पहुंचाने का कोई उपाय न सोचा।

वाह, राम कमाल!

मैं ही नहीं, हर कोई मेरी तरह अढ़ाई हज़ार सेना से महान् जीतें जीतता हुआ पानीपत पहुंच सकता था। पर तब लगता था कि मेरी किस्मत जागी हुई है। परिस्थितियां बन रही थीं और नाम के साथ जुड़े यश की चमक बढ़ती जाती थी।

सहज ही मैं पानीपत जा पहुंचा। पानीपत उत्तर में सचखंडा का सबसे सुन्दर नगर था और सारी सचखंडा रियासत में यह दूसरे दर्जे पर गिना जाता था। उम्र में पानीपत सचखंडा से भी कहीं पुराना था और उसकी जीत सचखंडा की हार थी। पानीपत में नियत की हुई सचखंडा की सेना ने अवश्य राजपूती हाथ दिखाए और जान मार कर लड़े, पर गिनती थोड़ी थी थी और हौसले छोटे। बहुत देर अटक न सके।

दो दिन की लड़ाई के बाद पानीपत मेरे हाथ था।

उधर सम्मिलित सेना ने भी सचदेव पर चढ़ाई कर दी थी और वह धीरे-धीरे पीछे हट रहा था। जिस समय पानीपत की पराजय का समाचार उसे मिला, तो वह मुंह घुमा कर ऐसा भागा कि अपनी

राजधानी में आकर ही सांस ली।.........

और यह भी उसने बुद्धिमत्ता दिखाई।

साथ ही मैं सचखंडा और सचदेव की इस कहानी में से भी अब समय के लिए प्रशंस्ति पढ़ता जाऊँ।

महामन्त्री सत्वेन्द्र के परिश्रम, प्रयत्न और प्रभाव से सचखंडा के नाम का अन्त न किया गया। उस पर अयाचित मेहरबानियां की गईं। आज तक भी सचखंडा बसता है, भले ही आगे से कहीं छोटा है और फिर कोई छेड़खानी करने में असमर्थ, पर आगे से बहुत सुख और आराम में।

* * *

पानीपत की विजय से मैं सहज ही विजयी सेना का पहला या दूसरा सेनापति था और सारे विजयपुर की शुभ कामनाएं मेरी झोली में थीं। मेरा यश भारत वर्ष के कोने-कोने में फैल चुका था और लगभग हर महाराजा, राजा, सरदार या राणा और सरकार से मुझे मान पत्र मिले। जनता की कई प्यार-भरी चिट्ठियों का मैं भागी बना और मैं पल भर के लिए सन्तुष्ट था, वास्तव में सन्तुष्ट। राणा सवाए सिंह के वचन सच निकले! मैं पिता जी और दादा जी के नाम को रौशन कर चुका था। पिता जी की मेरे लिए लालसाएं पूरी हो चुकी थीं।

# २४

मैं विजयपुर लौटा।

नगर की ओर से एक-दो दिन की उत्कट आवभगत के बाद मुझे अपने आप में आने का अवसर मिला। समागम कम हो गए। जनता का उत्साह भी कुछ पूर्ण हुआ और मुझे अपने घर की चारदीवारी अपनानी पड़ी। जीव लाल और मोहिनी का साथ ढूंढना पड़ा। इन दोनों वृद्धों के साथ में एक अनोखी तफरीह का प्रभाव था। उनके आस-पास होने पर मुझसे कोई ठोस काम नहीं हो सकता था। वृद्धावस्था के सन्तोष के सम्मुख यौवन की सारी तीव्रता तुच्छ लगती है।

मैंने एकाएक बहुत एकाकीपन महसूस किया। पानीपत की विजय से मिली कीर्ति ने मेरा अन्दर-बाहर भर रखा था और लगता था कि अब मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता न होगी। पर दो दिन की फुर्सत मिलते ही मुझे इस कीर्ति की नश्वरता दिखाई दी। मैं अपने घर में अकेला था और मेरा कोई ऐसा साथ न था जिसके प्यार की

छवि तले यह कीर्ति और यह यश मुझे मधुर रसमय और अच्छा लगे।

शकुन्तला मेरे ख्यालों की टेक बन गई। दैवी प्रसन्नता के वे सारे चित्र जो उसने मेरे लिए गढ़े थे, आज चूर चूर हो गए थे और लगता था कि मैं शून्य में जा रहा हूं। शकुन्तला की याद सताती थी। मैं उसे मिलने हरियाणा जाना चाहता था, पर मेरी स्थिति आज्ञा नहीं देती थी। देवराम को मैंने एक बार यों ही बातों में शकुन्तला को विजय नगर वापिस बुलाने को कहा, पर उसके चेहरे के हाव-भाव से मुझे पता चला कि जो भी बात थी, वह बहुत गम्भीर थी। मुझे पता है कि पहले देवराम और उसकी स्त्री दोनों मुझे अपनाने के इच्छुक थे, पर अब महन्ती की चाल के आगे विवश दिखाई देते थे। मुझ देवराम की बात-चीत ने विश्वास दिला दिया कि शकुन्तला अब विजयनगर कभी नहीं आएगी।

मैं बहुत लाचार था। सोचता था, महन्ती को आखिर लाभ क्या हुआ......?

* * *

एक सन्ध्या मैं रक्खी जूह में सैर करने गया। यह जूह विजय नगर से कोई दो मील के अन्तर पर था। वहां कुछ सगन वृक्ष थे और एक पानी का बहता नाला। इतना सुन्दर और रमणीय तो नहीं था, पर एकान्त था और इसीलिए कई प्रेमी-युगलों के मिलाप के लिए प्रसिद्ध।

कहते हैं, इसी जूह में ही दो सौ वर्ष पहले विधिचांद और बैरागन की प्रणय-कहानी का प्रारम्भ और अन्त हुआ था। उनकी प्रीत-कहानी बहुत आकर्षक है। मैं कई बार अपने आपसे पूछता रहा हूं कि क्या वह वास्तव में सच थी या कुशेमरां और वीर के किस्से की तरह मन घड़न्त ?

इसी जूह में कभी कुमार और शकुन्तला भी मिलते रहे और जहां ही उन्होंने 'अन्त तक' के बचन भी दिए थे।

बीते प्यार और गुज़री घटनाओं को पुनर्जीवित करने के लिए मेरा रक्खी जूह में कई बार जाना होता था और मैं गया! पर उस सध्या मेरे साथ एक बड़ी विचित्र घटना घटित हुई।

मैं अपने में मस्त चला जाता था। सूरज ढल रहा था और वृक्षों की परछाइयां उनके अपने आकार से तिगुनी लम्बी हो गई थीं। रक्खी जूह वस्तुतः उजाड़ था। मैं उस स्थान पर पहुंचा जहां मैं और शकुन्तला एक बड़े पत्थर पर बैठा करते थे। एकाएक मेरे कानों में किसी की ऊंची और कटु हंसी की आवाज़ आई। मैंने चारों ओर देखा। बाईं ओर एक छोटी झाड़ी में से महन्ती निकला और वह फिर हंसा।

उसकी हंसी में उलाहना था और शरारत। मुझे लगा जैसे सारी जूह का कण-कण मेरी हार पर हंसा हो। मैं बड़ा निराश हुआ और अधिक उदास भी। मैं किसी से बात करने के मूड में न था। और फिर महन्ती से! महन्ती की अपनी कोई इज्जत न थी और उससे बात करना मुझे सरासर घाटा लगता था। मैंने मुंह फेर लिया और वहां से उठ कर जाने लगा।

"ठहरो सेनापति! इतनी जल्दी क्या है, मैंने तो अभी तक आपको सेनापति बनने की बधाई तक नहीं दी।

मैं रुक गया। अपना उदास चेहरा महन्ती की ओर घुमा कर मैंने कहा, "महन्ती जाने दे, आग से मत खेल।" पर महन्ती को जरा झिझक न आई। उदास चेहरों और उदास दिलों से अच्छे आदमी बात नहीं करते, पर महन्ती अच्छा आदमी न था।

सेनापति महोदय ! ठहरोगे नहीं। शकुन्तला हरियाणा से लौट आई है। अब आती ही होगी !

आह ! कितना भयानक मजाक था यह !

पर मैं फिर भी न लौटा, अपनी अनन्त निराशा में मैं अभी तक अडिग था।

"शकुन्तला अभी ही यहां आएगी, सेनापति !" उसने फिर कहा।

मेरा संयम टूट रहा था। मेरा सब्र समाप्त हो चुका था। महन्ती के होठों का स्पर्श करता शकुन्तला का नाम शकुन्तला को मुझसे बहुत दूर ले जाता था। और उस समय मैं यह स्वीकार नहीं करना चाहता था। मेरे सामने खड़े महन्ती की कुरूपता शकुन्तला के सौन्दर्य से एक भयानक मजाक था। मैंने ऊंची आवाज में डांटा, "महन्ती !!" और मेरी उदासी खत्म हो गई।

"महन्ती......... ।" उसने मुझे चिढ़ाया; महन्ती ने मेरी नकल उतारी। महन्ती ने मेरा दिल दुःखाया, शकुन्तला को मुझसे खोया; एक बार नहीं, हजार बार मजाक किए, मेरा अपने पिता के सम्मुख निरादर किया; और आज महन्ती ने मुझे चिढ़ाया, मेरे भुजबल पर आक्षेप किया।

"महन्ती, तुम्हारे मंद भाग्य !"

इतना कुछ हो जाने पर भी मैंने तेरा बुरा नहीं माना। मैं तुझे माफ कर चुका था, मैंने तुझे भूल जाना था। पर तू पग-पग पर मेरे पांवों मैं अटका। शकुन्तला तुम्हारे साथ खुश रह सकती तो मेरी इसमें खुशी होनी थी, पर महन्ती तू सीमा लांघ गया; तूने मेरे उन कोमल भावों को बेदर्दी से ठेस पहुँचाई, जिनके निकट भी तब तक कोई न पहुंच सका था, न ही बाद में। तूने मुझे मजबूर

कर दिया कि मैं अपना हाथ तलवार की मूठ पर रक्खूं, तूने अपना दंड अपने मुंह से आप मांग कर लिया।

'तेरी किस्मत महन्ती ! तेरी किस्मत।"

छोटे बच्चे भी बार-बार अपना निरादर नहीं सह सकते। मैने कमज़ोरों को शक्तिशालियों से हाथा-पाई करते देखा है। इस लिए कि उनकी सहन-शक्ति समाप्त हो जाती है और उससे आगे वह उससे मरना अच्छा समझते हैं। और फिर मेरी तरह जवान राजपूत ? गुस्से में अपने आपको बहुत कम दफ़ा भूला हूं, पर मेरा विश्वास है कि यदि निजी अपमान मनुष्य को प्रेरित नही करता तो किसी भी तरह जातीय और राष्ट्रीय अपमान भी उसे प्रेरित नही कर सकता। मैं समझता हूं कि प्रत्येक मानव-मन में एक ऐसी आकार-रहित रेखा होती है या होनी चाहिए, जिसके आगे किसी को लांघते देख कर वह अपनी जान तक निछावर करनी स्वीकार करे।

महन्ती के इन काटने वाले बचनों पर मैं ने अपने आपको एक बार फिर रोकना चाहा। पर इससे पहले कि मैं कुछ और सोचता, मेरा हाथ तलवार की मूंठ पर था।

"तूने अपनी मौत अपने मुंह से मांगी है, महन्ती।" और मेरी तलवार रक्खी जूह में चमकी। दो सौ वर्ष पूर्व विधि चंद की तलवार भी किसी ऐसे ही अवसर पर चमकी थी।

महन्ती घबराया।

"घबरा न महन्ती, अपनी भी तलवार निकाल" और मेरा ध्यान उस बड़े पत्थर के तले गहरी खाई की तरफ गया।

मैं महन्ती की दाद देता हूं कि उसने कुछ हिम्मत ज़रूर दिखाई। आखिर राजपूती खून था, उसने तलवार खींची। सूर्य

अस्त होने वाला था और रक्खी जूह शान्त थी, वास्तव में शान्त ।

"एक नहीं, तू तीन वार कर और फिर मेरे बाएं हाथ के वार के लिए तैयार रहना ।"

तीन की जगह उसने मुझ पर चार वार किए। और फिर एक मेरा भी खाया··· ······ । महन्ती का कन्धा कटा गया । और कमर भी आधी काटी गई।

"ओह निर्दयी··················ओह शकुन्तला ········और वह बेहोश हो गया।

मुझे फिर भी महन्ती पर तरस आया। अन्त मे वह भी अपने मां—बाप का पुत्र था। एक बार मेरे दिल में आया कि उसे पत्थर के नीचे गहरी खाई मैं ढकेल दूं, पर मैं यह न कर सका। अपने वार के साथ ही मेरी उदासी फिर लौट आई थी और उदास मन बहुत कुछ क्षमा करने के योग्य होता है।

मैं लौट आया और तीन आदमी महन्ती की सहायता के लिए भेजे। वे उसे उसके घर पहुंचा आए। और मैं फिर कभी महन्ती को न मिला।

तीन—चार महीने बाद वह कुछ ठीक हो गया और बाहर निकलने लगा, पर उसका एक भाग बलहीन होने के कारण वह बिना सहारे के चल-फिर नहीं सकता था। चार पाँच महीने इस हालत में स्वस्थ रहने के बाद वह फिर रोगी हो गया। उसे मियादी बुखार हो गया और दो मास बीमार रहने के बाद वह मर गया।

बुरे से बुरे मनुष्य में भी कुछ न कुछ बख्शा जाने वाला जरूर होता है।

महन्ती के पिछले महीनों के व्यवहार ने मेरे दिल में पर्याप्त आदर पैदा करवाया। स्पष्ट है कि उसने मेरे साथ हुई हाथा-पाई

की बात किसी से नहीं कही थी। और न ही उसने फिर कभी मुझसे मिलने की कोशिश की।

इसके अतिरिक्त क्या उसने शकुन्तला को पाने का कोई विशेश प्रयत्न किया और यदि किया तो उसका क्या अन्त हुआ, मैं नहीं कह सकता। देवराम और जय गुलाल से कई बार यह भेद पूछने को जी में आया है, पर मैं सदा अपने सब्र पर संयम ही रखता आया हूं।

महन्ती के साथ हुई इस लड़ाई के बाद मैं और भी उदास हो गया। मित्र तो क्या अब विजयनगर में मेरा कोई दुश्मन भी न रहा था।

# २५

मेरी व्याकुलता और उदासी दोनों अन्तिम छोर तक आ पहुंची और मैं स्वत: पुकार उठा : "माता कान्ता !"

हां, माता कान्ता की गोद में ही मेरे पीड़ित मन को सुख और शान्ति मिल सकती थी। मैं देव नगर पहुंचा।

पर आह, जहां देव नगर मेरे लिए नहीं बदला था, मैं देवनगर के लिए बदल गया था। मेरे वहां आने की खबर मेरे वहां आने से पहले पहुंच चुकी थी और नगर की ओर से मेरे स्वागत के लिए बड़े २ समागमों की तैयारियाँ की जा रही थीं। देवनगर के मेरे ऊपर विशेष अधिकार थे। मैं महसूस करता था और देवनगर की श्रद्धा और प्यार की कद्र करता था। किसी मनुष्य के लिए इससे बढ़ कर प्रसन्नता की बात क्या हो सकती है कि उसी नगर में सम्मान पूर्वक उसका स्वागत किया जाय, जहां उसने बचपन के दिन गुज़ारे हैं! मैं भी खुश हुआ, मुसकराया, हंसा और सबसे बढ़ कर इसलिए कि मुझे सबसे पहले 'स्वागत' कहने वाले थे स्वयं राणा सवाए सिंह।

और अन्त में मुझे वह गोद प्राप्त हुई, मैंने अपने आपको माता कान्ता के आलिंगन में जकड़ा पाया। उनकी गोद में मैं देर बाद बिखर कर लेटा और कितना सन्तोष मुझे मिला। यदि संसार में कोई सम्बन्धी सदा एक जैसी तीव्रता और प्यार के साथ भरपूर रहता है तो वह माँ है। केवल मां के लिए बदलते समय, बदलती स्थिति और अनेक चढ़ाव-उतार भावहीन होते हैं। केवल माता कान्ता ने ही मुझे पहले की भांति प्यार लिया, सटा लिया, चूमा। सिर्फ माता कान्ता को ही मेरा सब बड़प्पन अपने प्यार के आगे तुच्छ लगा। 'मेरे वास्ते तो तू वही कुमार है' उसने कई वार कहा।

मैं बीस दिन देवनगर रहा। पृथ्वीसेन मुझे मिलने के लिए छुट्टी लेकर आया। वह एक परगने में नौकर हो चुका था। गुजरते समय का उस पर बहुत कम प्रभाव पड़ा था। वह वही पुराना पृथ्वीसेन था। मैंने उसे शकुन्तला से गुजरी वार्ता सुनाई। उसका वही निर्मोही व्यवहार था। सारी कहानी सुन कर वह चुप रहा और फिर इतना ही उसने कहा, "तुम्हारा अगला प्यार अमर होगा, कुमार" और मैं कितनी देर उसके इस वाक्य के विषय में सोचता रहा।

ऐसे रुखे व्यवहार के विपरीत भी मैं उसे महुन्ती से अपनी भेंट की कहानी सुनाने से न रह सका। हाँ, इसके सिवाए और कोई राह न था। "तूने ठीक किया है।" उसने कहा और बस।

चितरंजन ने गणित विद्या, इतिहास और पुराणों पर विशेष परिश्रम करना शुरू किया हुआ था। इस क्षेत्र में उसने धीरे-धीरे बहुत नाम कमाना शुरु किया। आज चितरंजन का नाम भारत के सारे बुद्धिमान् जानते हैं और उसने भारतीय इतिहास और पुराण को बिल्कुल नया रंग दिया है। आलोचकों और विद्वानों की राय के

अनुसार चितरंजन हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा इतिहासकार बनेगा ।

गणित विद्या में भी उसने नवीन शोध करके पुस्तकें लिखी हैं ! सभी की तरह मैं भी हैरान हूं कि इतिहास के साथ वह इस जैसी भिन्न और स्थूल विद्या को कैसे अपना सकता है, पर यह चितरंजन का कमाल है । दर्शन से उसका गहरा प्रेम धीरे–धीरे कम होता गया है, भले ही मेरे दार्शनिक भाव उसी के कारण हैं ।

मेरे देव नगर पहुंचने के दूसरे दिन ही चितरंजन वहां पहुंच गया और फिर हम इकट्ठे ही अमरावती गए । महाराज सुन्दर कुल का न्योता भी मुझे आया हुआ था । अमरावती से आकर मैं कोई आठ दिन और देवनगर रहा ।

राणा सवाए सिंह चढ़ती कलाओं में थे । मुझे देखते ही वह सदा मुसकरा देते । उनसे अपनी प्रसन्नता सम्भाली नहीं जाती थी । देवनगर में बिताए पूर्ण तफरीह के वे दिन मुझे आज तक याद हैं । फिर कभी उस जैसी फुर्सत कम ही मिली है । यह ठीक है कि जोगी अपने चमत्कारिक व्यक्ति के साथ मेरे आस पास पूर्ण फुर्सत बिखेर देती है पर फिर भी उस फुर्सत और शान्ति का आना ही आनन्द था ।

शकुन्तला का वियोग असह्य न रहा । लगने लगा कि उसे गंवा कर मुझे न पूरी होने वाली हानि नहीं हुई । और माता कान्ता के प्यार में एक ज्वलन्त उत्साह मुझे पुनः प्राप्त हुआ । मैंने फिर सपने बुनने शुरू कर दिए और अब भविष्य कल्पित चित्रों में सन्तोष था । मेरा दिल लगने लगा । अपने चमकते भून का अनुभव मुझे आत्म विश्वास देने लगा । घिर आए उदासी और निराशा के बादल बिखर गए और वातावरण फिर स्वच्छ हो गया । इतनी छोटी उम्र में इतना कुछ कर लेने के ख्याल से बार २ खेलने को दिल करने लगा । पिता जी की याद लौटी और मैंने सोचा कि यदि वह जीवित होते

तो मुझे इस स्थिति पर देख कर कितना खुश होते ।

मैंने इतना अकेलापन महसूस न किया, और यदि किया तो इस आशा से सन्तुष्ट था, कि सदा इस तरह नहीं रहेगा । मैं कहता कि जहां आगे इतनीं इच्छाएं पूरी हुई हैं, वहां यह भी अवश्य होगी । अवश्य कोई प्रिय संगिनी मिलेगी, जो सदा मेरे जीवन में प्रेम की वर्षा करती रहेगी । अवश्य कोई मेरी कठिन राहों पर अपना सुखकर और मधुर प्रकाश बिछाने के लिए स्वतः ही मेरी इच्छाओं के नभ में मुसकराती आ समाएगी ।

और ऐसे ही हुआ । ज्योति, अपने प्रकाश का कभी मन्द न पड़ने वाला दीपक अपने नयनों में जगाए मेरी राहों पर आई......!

# २६

देवनगर से आकर मैं नित्य प्रति के कामों में व्यस्त हो गया और इन कामों में से एक था हर चौथे–छठे दिन सेनापति भगवान सिंह के घर जाना।

ज्यों-ज्यों दिन गुजरते गए, यह अन्तर कम होता गया और नियम पक्का सेनापति भगवान सिंह अब चारपाई से उठ सकते थे और घर मे ही किसी समय थोड़ा–बहुत चल फिर सकते थे। पहले ही उनके लिए मेरे दिल में सम्मानित स्थान था, पर हल्दी की विजय के बाद जो पाती उन्होंने मुझे लिखी, उसने तो सदा के लिए मुझे पूरा पूरा उनका बना दिया।

यह ही नहीं, राजगढ़ से जैसलमेर जाते हुए विजय नगर एक रात रहने के अवसर पर जब मैं उन्हें मिला तो उनकी बधाई उनके उद्वलित स्नेह और उनकी निश्छल मुसकानों ने मेरा अति स्नेहपूर्ण स्वागत किया! राजगढ़ के मोर्चे पर मेरी सफलता आधी से अधिक उनकी सफलता थी और जिस निस्कामता से वह सेना को मेरे नेतृत्व में छोड़ गए थे, वह सचमुच ही न्यारी थी।

पानीपत से लौटते ही मैं सेनापति को प्रणाम करने गया और इसी तरह देव नगर से लौट कर। किन्तु अन्तिम भेंट में एक नया और निराला ही रस था। उस दिन मेरे उदासीन जीवन में एक नयी किरण चमकी और नयी उमंगों और आकांक्षाओं का प्रारम्भ हुआ। पहली दाहक व्याकुलता की जगह एक नयी मधुर २ सुखकर व्याकुलता ने ली।

उस दिन ज्योति मुझे मिली।

मिला तो उसे मैं दो बार पहले भी था पर स्वाभाविक ही। भले ही उन दो भेंटों को भी यादों का अनन्त स्पर्श हो चुका है, पर इस मिलन की तरह वह रंग उनमें नहीं है। पहली बार हल्दी के युद्ध के बाद जब मैं सेनापति भगवान सिंह जी के यहां गया तो उनकी पत्नी कुशमरा और ज्योति उनके पास ही बैठी थीं। अनेक शुभ कामनाएं और बधाइयां, जो मुझे हल्दी की विजय पर मिली थीं, उनमें ज्योति ने भी अपना हिस्सा डाला था। कहा था, "मेरी ओर से भी बधाई स्वीकार करना राणा जी"।

मैंने मुसकरा कर नम्रतापूर्वक उसकी बधाई को स्वीकार किया और उसके उत्तर में उसके होठों की सूक्ष्म थिरकन और उसके नयन-छोर की क्षणभंगुर फड़कन मुझसे छिपी न रह सकी।

दूसरी बार जब मैं सेनापति के यहां गया तो वह अकेले बाहर बगीचे में बैठे थे। मुझे भी उन्होंने अपने पास वहां बिठा लिया। ज्योति अपने पिता से अपनी पुस्तक "चंडीदास काव्य" का पता करने आई। बचपन में मैंने भी चितरंजन से मांग कर चंडीदास को पढ़ा था। जब हमारी नज़रें मिलीं, तो मैंने चंडीदास को जानने, उसके पाठकों को जिनमें ज्योति भी सम्मिलित थी, का प्रशंसक होना बता दिया। उसने भी जवाबी दृष्टि में बताया कि चंडीदास और उसके पाठकों की वह भी प्रशंसक है। पर हमने बात

कोई न की। उसके चले जाने के बाद सेनापति ने मुझे कहा, "बड़ी प्यारी है मेरी ज्योति और बड़ी गुणवान"

मैंने ज़ोरदार शब्दों में 'हाँ' मिलाई थी।

देवनगर और अमरावती में दिन बिताते हुए मुझे बस एक दो बार ही ज्योति का ख्याल आया था और वह भी सेनापति भगवान सिंह के साथ में। पर जो भी ख्याल एक दो बार आए वे बड़े स्नेहिल और सुखकर थे।

और तीसरी बार हम मिले तब ''और उसके बाद ज्योति मेरे ख्यालों से कभी अलग नहीं हुई।

सेनापति भगवान सिंह और श्रीमती कुशेमरां के चार बच्चे थे। ज्योति, विक्रम सिंह, भूपेन्द्र और उपेन्द्र या उप्पी। चारों के चारों बड़े प्यारे थे और चारों के चारों अपने आप में अनोखे !

उप्पी सबसे छोटी थी और बस सारी दुनिया उसके सहारे ही स्थिर थी। अपने सातवें साल में ही वह इतनी गम्भीर थी कि यदि मैं सौ साल जीऊं तो भी कभी न हो सकूं। हर उस बात पर, जिसकी आशा न हो, वह अचंभित होकर अपनी पहली उंगली अपने बन्द होठों पर रख कर कहती थी, "हे राम !" जब सेनापति जी घायल होकर घर आए तो विक्रम कह बैठा, "अब पश्चिमी मोर्चे पर कहीं हार ही न हो जाए" तो उप्पी ने अपने होठों पर उंगली रख कर कहा था "हे राम" और वह स्वयं एक-दो दिन सेनापति जी की जगह सम्भालने के लिए सब तैयारी करती रहती थी।

भूपेन्द्र बड़ी चंचल और सयानी लड़की थी, पर अपने भाई विक्रम से सदा उसकी होड़ लगी रहती थी।

वह उसे अछूत समझती थी और जब कभी भी वह उसे छू लेता, उसे नहाना पड़ता था। कुशेमरां की निगरानी विक्रम को बड़ी सख्त

मनाही रहती थी, फिर भी दिन मे दो तीन बार उसके स्पर्श से भूपेन्द्र अपवित्र हो जाती थी । बड़ी मुश्किल से उसके बारहवें साल में उसकी इस सनक का अन्त हुआ।

विक्रय सिंह पर सत्रह वर्षों की चढ़ती जवानी थी और उस पर सदा विक्रमादित्य बनने का भूत सवार रहता था। उसने अपने लिए एक विशेष सिंहासन बनवाया हुआ था एक सिंहासन-मन्दिर भी। उसकी महा मन्त्री थी ज्योति, सेनापति उप्पी और छत्रवाहक भूपेन्द्र। किन्तु भूपेन्द्र का यह पदवी संभालने से साफ 'इन्कार' था।

सेनापति भगवान सिंह और कुशेमरा सन्तुष्ट और प्रसन्न माता-पिता थे। बच्चे प्यारे थे, सुन्दर थे और आज्ञाकारी। आदर था, परस्पर प्रेम था और सारा परिवार कभी रोगी नहीं हुआ था। यह पहली बार थी कि सेनापति राजगढ़ में घायल हुए थे।

× × ×

जिस दिन की मैं बात करता हूं, उस दिन सारा परिवार एक जगह मिल कर बैठा और सभी बड़े अच्छे मिजाज में थे। सेनापति दर्शकों को सदा बैठक में ही मिला करते थे, पर मुझे उन्होंने उस शाम अन्दर बुला लिया, जहां वे सारे बैठे थे। यह मैंने अपना सम्मान माना। मैंने समझा है कि जो भी एक बार उनकी बैठक को पार कर जाय, वह सेनापति जी के परिवार का एक सदस्य बन जाता है।

चारों ओर बिखरी प्रसन्नता मे मैंने भी अपने पंख खोले। अपने सेनापति के जामे को उतार फेंका। उस परिवार का एक प्राणी बन गया। मुझे अपने बचपन के दिन याद आए। और वे दिन जब वनगर में सत्रह वर्ष की आयु तक मैं सुमेर सिंह, उषा और मनोरम साथ बच्चों की तरह ही खेला करता था।

मेरा विश्वास है कि केवल वह आदमी कभी बूढ़ा नहीं होता, ज कभी बच्चा बनना नहीं भूलता, बचपन का देश अमर है।

बातें करते-करते भूपेन्द्र ने मुझ से पूछा "आपने बड़ी दीदी को कभी गाते नहीं सुना ?"

"नही तो..........."

"हे राम......" उप्पी ने अपने होठों पर उँगली रख कर अपना आश्चर्य प्रकट किया। "आपने दीदी का गाना नहीं सुना ?" और वह दीदी और फिर सभी की ओर देखने लग गई। बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए वह कमरे से बाहर निकल गई और तानपूरा लाकर ज्योति के आगे रख दिया——"जा भाई तबला भी ले आ" उसने विक्रम सिंह से कहा।

"नहीं, मैं तबला नहीं बजाऊंगा आज, मैं हूं महाराजा विक्रमादित्य, मेरी महामन्त्री राजगायिका बनेगी। गाना शुरू हो।" अपना राज सिंहासन लाकर वह घुटने पर घुटना धर कर विराजमान हो गया।

ज्योति लजाई और उसने कुछ यों संकेत किया जैसे वह गाना नहीं चाहती। पर सेनापति भगवान सिंह और माता कुशेमरां के हठ करने पर वह मान गई। ज्योति ने तानपूरे पर बिहाग छेड़ा। वह गाती गई और हम सुनते गए, मैं सुनता गया। ज्यों-ज्यों ज्योति संगीतमयी होती गई, त्यों-त्यों लगा कि कमरे का कण-कण तन्मय होता जा रहा है।

ज्योति दीवार की टेक लगा कर ज़मीन पर बैठी थी। फानूस का प्रकाश उसके चेहरे पर शोभायमान हो रहा था। तानपूरे का ऊपर का छोर उसके माथे के दाएँ कोने को छू रहा था। उसके मस्तक पर 'सौभाग्यशाली' होने का तेज था। उसके नयनों में झिलमिलाते गगन दिखाई देते थे। तानपूरे के तार उसकी पतली, लम्बी, सुन्दर उंगलियों के स्पर्श की प्रसन्नता में बेसुध हो गए थे।

राग समाप्त हुआ ! सेनापति, कुशेमरां और उपेन्द्र ने मेरी ओर देखा। मैं सारे का सारा प्रसन्न था।

"सेनापति की पदवी से तो यह ऊंची पदवी है" मैंने कहा।

ज्योति ने मेरी प्रशंसा स्वीकार की!

महाराजा विक्रमादित्य अति प्रसन्न हुए थे। राजगायिका कुछ मांगने की इच्छुक है क्या?" महाराज विक्रम ने कहा।

"जी" ज्योति ने मुंह बना कर कहा।

मैंने उत्तर सुना। मैंने ज्योति की ओर उस समय देखा, और उस क्षण से मेरे दिल में ज्योति के लिए प्रेम जागृत हुआ।

पक्के राग की गम्भीरता, गाने का ढंग और संगीत की गम्भीरता के बाद यह हल्केपन का स्पर्श। गीत भरे बादलों पर यह सतरंगी पींग, मुझे अपना ही रूप नज़र आया। गम्भीरता में सरल बचपन मेरे आचरण का एक विशेष चिह्न है। उपेन्द्र तानपूरा उठा कर मेरे पास लाई। "यह है बड़ी दीदी की, हुई चित्रकारी, आपने पहले नहीं न देखी?"

तानपूरे की पीठ पर चंडीदास, वाल्मीक, विद्यापति के चित्र बने थे।

## २७

"मेरे सामने अपना जीवन एक बार फिर कहो, कुमार सिंह। मैं आपकी जीवन-कहानी सुनने का बड़ा इच्छुक हूं।" महा मन्त्री ने मेरी आंखों में देखते हुए कहा।

उनकी तेजस्वी आँखों और उससे भी तेजस्वी दृष्टि के सामने मैंने अपने को बड़ा छोटा महसूस किया। उतना ही छोटा, जितना अपने पिता के सामने किसी भी उम्र का बच्चा महसूस करता है।

"महा मन्त्री......" मैंने कहा। मेरा आशय था कि वह क्या कह रहे हैं? मैं इतने आदर के योग्य नहीं हूं।

वह मेरा भाव समझ गए, तो भी उन्होंने मुसकरा कर उत्तर दिया :——

"बेशक वे वक्त और वे बातें मुझे न बताना, जिन्हें तुम छिपाना चाहो।"

मैं भी मुसकराया, पर समझ कुछ न सका। यह मेरी और महा मन्त्री की दूसरी एकान्त भेंट थी। उन्होंने फिर मुझे घर बुलाया

था। सन्ध्या के समय ही। अन्धेरे में तो व्यर्थ ही की हुई खुली बातों में भी भेद का अंश मिल जाता है। और महा मन्त्री के घर सन्ध्या के वक्त वातावरण ही ऐसा होता था और फिर बातें भी पिता जी के विषय में, और फिर महा मन्त्री के मुंह से। मैं बड़ा हैरान होता था, पर सच यह है कि इन बातों के विपरीत भी महा मन्त्री से मुझे कभी कोई डर न लगा! उन्होने मुझे पूरी तरह जीता हुआ था। जब भी मैं उनसे मिला, उन्होंने इस तरह मुझे विश्वास में लिया जैसे मैं देर से उनके अति निकट होऊं।

काम-काज की व्यस्तता में जब कभी मुझे महा मन्त्री से मिलने का अवसर मिला है, जैसे राजगढ़ में, तो मैंने देखा कि महा मन्त्री सोचते अधिक थे, पर बोलते कम। उनकी निकटता में कोई मनुष्य या दर्शनार्थी लम्बे व्याख्यान नहीं दे सकता था। उनके व्यक्तित्व का रोब-दाब ही ऐसा था। उनके आसपास व्यस्तता की हवा झुलती रहती थी। यही कुछ महा मन्त्री के बारे में सुना गया था। कहा जाता था कि राजकीय कार्य ही उनके काम थे और यही उनकी फुर्सत। उन्होने अपने मनोरंजन के लिए कभी कुछ विशेष नहीं किया था।

पर जब मैं महा मन्त्री को मिलता, तो वह फुर्सत में होते थे।

मुझे लगता था जैसे वह मुझ से कुछ कहना चाहते है, पर कह नहीं सकते। मैं एक अजीब रहस्य में उलझ रहा था। और फिर एकाएक उनका मेरी सारी जीवन कहानी सुनने का इच्छुक होना! क्यों? मैं उनका क्या लगता था? वह क्यों मेरे में इतनी दिलचस्पी लेते थे? यह ठीक था कि मेरी जैसी उम्र वाला कोई ऐसा मनुष्य पहले उनकी नजरों से नही गुजरा था, पर इस लिए तो वह हर समागम में मेरी प्रशंसा करते थे। फिर ये विशेष एकान्त मिलन क्यों।

उन्होंने मुझे विवश किया और मुझे अपनी जीवन-कथा सुनानी पड़ी।

पहली शाम मैंने अपने पहले आठ वर्षों की बची खुची यादों को शब्दों का रूप दिया। महा मन्त्री चुप-चाप सुनते रहे। पर जब मैं पिता जी के अन्तिम दिनों पर पहुंचा तो वह बहुत अधिक एकाग्र चित्त हो गए और उन्होंने मुझ से प्रश्न भी पूछे, और अन्त में एक लम्बी आह भरी। क्या था उनके दिल में ? क्या था महा मन्त्री को ? बार-बार उनसे पूछना चाहता भी मैं पूछ नहीं सकता था।

तीन भिन्न भिन्न बैठकों में मेरी जीवन कहानी समाप्त हुई। कहानी सुनते–सुनते एकाधिक बार महामन्त्री मुझे उदास हो गए लगे। वह अपनी सिसकियों को बड़ी मुश्किल से रोक सके। मैं महा मन्त्री को इस हालत में देख कर बहुत दुःखी होता था। मेरे दिल में उनके लिए प्रेम बढ़ता जाता था और उनके राजकीय कार्यों और महानता का ख्याल करते हुए मैं उनको अपने सामने किसी तरह उदास हुआ नहीं देख सकता था। भारत के सभी प्रेमियों के दिल में अपने यश के साथ वह आप ही वहां बसते थे, पर मेरे सामने वह किस तरह सिमट से जाते। एक दो बार मन में आया कि मैं महा मन्त्री को बाहों में कस लूं और चिल्ला कर कहूं, "महा मन्त्री, यह उदासी क्यों ? क्यों यह उदासी ?" क्या बात है आपके दिल में ? मुझे बताते क्यों नहीं ?"

यही ही नहीं, महा मन्त्री मुझे बड़ी अजीब तरह सम्बोधन करते थे। कभी 'आप' कभी 'कुमार सिंह' और कभी 'तू'। साधारणतया वह किसी का नाम लेकर बुलाने की भी खुल नहीं लेते थे। यह उनके मन की व्याकुलता का एक महत्वपूर्ण चिह्न था, पर मैं महा मन्त्री की कोई सहायता नहीं कर सकता था।

अपनी तीसरी बैठक के समय मैंने साहस करके उनसे एक-दो बार पूछा, "महा मन्त्री, आप बड़े उदास हैं। महा मन्त्री, आपके दिल पर

कोई भार पड़ा है ?" पर उन्होंने मुसकरा कर 'कुछ नहीं कुम.र सिंह' कह कर मुझे और खुल लेने से रोक दिया।

यह बात भी चिन्तनीय थी कि महा मन्त्री के बहिर्मुख-व्यवहार में कोई परिवर्तन न आया। कोई कह नहीं सकता था कि महा मन्त्री अपने अन्तर में बड़े बेचैन और उदास रहते है। मुझे भी जब कभी उन.ो सरकारी मामलों में मिलने का अवसर मिला, तो उन्होने अपने नित्य-प्रति के व्यवहार से कोई भिन्नता न दिखाई और मैंने तब किसी के आगे महा मन्त्री की उदासी और निराशा का उल्लेख करना ही क्यों था ?

हमारी ये तीन बैठकें तीन सप्ताहों में समाप्त हुईं और उसके बाद भी पन्द्रहवें-बीसवें दिन मुझे महा मन्त्री अवश्य अपने पास बुलाते रहे। धीरे-धीरे हमें बातें करने के लिए विषय मिल गए। उनकी बहिन सतवंती भी हमारी बैठकों में सम्मिलित होने लगी। और फिर जब कभी मैं महा मन्त्री के यहां जाता तो रात की रोटी वहाँ ही खाता। मेरे लम्बे साथ में जैसे उनकी उदासी और बेचैनी भी कम होती गई।

# २८

माता कुशेमरां ने मुझे कभी-कभी आने के लिए कहा था और मैं उनके कहे पर फूल चढ़ाता रहा।

ज्योति भी मिलती रही। धीरे-धीरे मैंने उसके बने हुए सारे चित्र देखे। घर में चारों ओर ज्योति ही बिखरी दिखाई देती थी। जब मैं पहले-पहल आया था तो बैठक में कुछ एक प्राकृति दृश्यों के चित्र लगे देख कर बड़ा प्रभावित हुआ था। मुझे याद आया कि मैं सेनापति से चित्रकार का नाम पूछते-पूछते ही रह गया था। बिहाग के उपरान्त मैंने ज्योति से और भी कई पक्के राग सुने।

माता कुशेमरां ने मुझे बताया कि घर का सारा प्रबन्ध ज्योति की देख रेख में था। सफाई, सजावट और खाना-पकाना सब कुछ ज्योति या तो स्वयं करती थी या उसकी निगरानी में होता था। उन्होंने एक बार कहा, "जब तक यहां है तब तक यह घर ज्योति का है और फिर भूपेन्द्र को बहुत कुछ सम्भालना पड़ेगा। मुझे तो ज्योति ने बेकार बिठा २ कर काम करने का ढंग ही भुला दिया है।"

ज्यों ज्यों मैं ज्योति के घर की सुन्दरता को देखता और वहां की उष्णता का आनन्द लेता, त्यों, त्यों मुझे 'अपना घर' बहुत हास्यास्पद लगता। जितने घर भी मैंने अपने जीवन में देखे थे, ज्योति का घर उन सबमें सुन्दर था। जैसे लिख आया हूं, "मेरा अपना घर मेरे स्वप्नों के सम्मुख बड़ा उघड़ा–बिखरा लगता था। शकुन्तला अपने साहचर्य से मुझ में गृह-प्रेम को हल्के-हल्के स्पर्शों से निखार गई थी। उसके जाने के बाद मैं एकाकी रह गया था। पर मैंने देखा कि अब जब मैं अकेला होता था तो अपने आप ज्योति मेरे निकट आ जाती और मैं उसकी निकटता में जिन्दगी की सांस लेता। मैं उसके मदमाते बचन सुनता, उसकी सुरुचि की छाया तले सन्तुष्ट होता और उसके स्नेहपूर्ण घर की उष्णता का सुख मानता।

मुझे रोहिणी याद आती। उसके साथ प्रेम का अन्त याद आता। शकुन्तला की घटना अभी पुरानी नहीं हुई थी, पर फिर भी रोहिणी और शकुन्तला शीघ्र ही ज्योति में समा जाती थी, और मैं भूत की जगह भविश्य की ओर देखने के लिए मजबूर हो जाता था।

अपने पहले असफल प्यारों का ख्याल आता तो मैं डरता। कभी कभी मैं सोचता कि मेरे भाग्य में ही सदा अकेले रह कर जिंदा रहना लिखा है, पर ये आशंकाएं, डर बहुत देर न ठहर सकते। ज्योति वेग से आती और फिर मैं होता और भविष्य के अनेक सपने...। आखिर पृथ्वीसेन ने भी कहा कि मेरा अगला प्यार अमर होगा। भले ही वह सर्वज्ञ न था, तो भी उसके कहने की कुछ न कुछ कीमत तो थी ही।

* * *

"जी!" ज्योति का टकसाली उत्तर था और है। जितना कुछ ज्योति इस एक 'जी' से कह जाती है, उतना कोई भी किसी एक शब्द से नहीं कह सकता। जो उसके 'जी' का भाव होता है।

"अच्छा।" उसके 'जी' का भाव होता है "आप कहते जाइए, मैं सुन रही हूं"। कभी साकार 'जी' साकार आश्चर्य होता है, और कभी साकार गम्भीरता। हां' 'न' की जगह भी वह अधिकतर 'जी' ही कहती है।

'जी' ही उसकी मुसकराहट है, और उसकी हँसी। यदि उसके 'जी' से उनके होठों का उतार-चढ़ाव भी मिल जाए, तो यही उसका मजाक, जो दूसरे को खिसियाना बना दे।

हमें इकट्ठे कई बार राजनीति और राज्योन्नति सम्बन्धी बातों में भी भाग लेना पड़ा है। और बड़े २ नेताओं के सम्मुख गंभीर से गंभीर समस्याओं पर विचार करते हुए भी वह इस एक शब्द 'जी' से बहुत कुछ समझा जाती है।

"जी" ज्योति ने मुसकरा कर कहा।

यह मेरा इस बात का उत्तर था :—"आपके संगीत से आपकी चित्रकला अधिक आकर्षक है और आपकी चित्रकला से आपका संगीत, और इन दोनों से आकर्षक है आपका घर"।

उसका "जी" में उत्तर ऐसी अनुपम पुष्प-मधुर कोमलता में दिया गया था कि मैंने उसकी सराहना से कहीं अधिक महसूस की अपनी प्रशंसा।

"और आप इन सबसे बढ़ कर," मेरा अप्रयास अगला वाक्य था।

"जी" उसने फिर कहा और मैंने फिर जैसे हारा हुआ महसूस किया। ज्योति अपने एक शब्द से मेरे सारे तीव्र वेगों को पछाड़ रही दिखाई दी।

इस बार वह केवल मुसकराई और जरा शरमाई। अपनी सफलता पर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। कितना छोटा हो जाता है आदमी अपनी सफलता में!

उस शाम जब मैं उनके घर गया, तो सरदार भगवान सिंह श्रीमती

कुवेमरों के साथ सेनापति रामसिंह के घर गए हुए थे। केवल ज्योति और बच्चे ही घर पर थे। हम कितनी देर अकेले बैठक में बैठे रहे। जब एकाएक विक्रम पर विक्रमादित्य का भूत सवार हुआ तो वह साथ के कमरे में चला गया। बैठक को, सेनापति भगवान सिंह की आज्ञा थी, कभी सिंहासन-महल न बनाया जाय। उपेन्द्र और भूपेन्द्र को भी वह साथ ले गया।

ज्योति और मैं आमने-सामने बैठे थे, जब उपरिलिखित बातचीत हुई। इसके बाद हम कुछ देर कालिदास और चंडीदास की कविता और नाटक के विषय में बातें करते रहे। चित्रकला और भारत में इस कला ने किस महानता के शिखर को छुआ था, वह भी हमारी बातचीत का भाग बना! और फिर ज्योति ने मुझे भारतीय पुराण के कई भेद खोल कर बताए।

एकाएक उसने पूछा, "आप इस कला और साहित्य के झमेले में कैसे दिलचस्पी लेने लगे? राजपूत सिपाहियों में क्या यह अनोखी बात नहीं?"

"होगी" मैंने मुसकरा कर कहा "पर अब तो साहित्य और कला मेरे जीवन का एक भाग बन चुके हैं। यह ठीक है कि सैनिक इतिहास में मुझे कहीं अधिक दिलचस्पी है, किन्तु केवल सैनिकता मुझे पूर्ण शान्ति नहीं पहुंचा सकती।"

"कब से?" उसने उत्साह के साथ पूछा।

"देर से ज्योति" अब कभी-कभार मैं उसे उसका नाम लेकर बुलाने की आजादी ले लेता था। पर आज उसका नाम लेते हुए मुझे एक विशेष प्रसन्नता हुई। "तब मैं नौ साल का था, जब मेरे मित्र चितरंजन ने मुझे पुस्तकें पढ़ने का चस्का लगाया। मैं उसका बहुत ऋणी हूं और सदा रहूंगा।"

"चितरंजन?" ज्योति ने मेरी ओर देखा। मैं समझ गया कि वह

पूछ रही थी चित्तरंजन कौन था, कहाँ मिला था, कैसे मिला था तथा और कुछ—कितना कुछ।

मैंने संक्षेप में उसे अपने बीते वर्षों की झाँकी दिखाई और फिर पूछा, क्या आपको मेरी यह दिलचस्पी अच्छी नहीं लगी ? उसने मेरी ओर देखा "लगती है, लगती है," वह कह रही मालूम हुई।

"या कि आपको मेरी सैनिक-वृत्ति कृत्रिम लगती है ?"

"नहीं, नहीं सेनापति।" पहली बार उसने मुझे सेनापति कह कर सम्बोधन किया था। "जो राजपूत शूरवीर सैनिक नहीं, वह राजपूत भी कैसे हुआ ? मैंने सहज-स्वभाव ही पूछा था।"

मैं उसकी ओर देखता रहा। और वह पल भर रुक कर बोला, "जब पिता जी घायल होकर राजगढ़ में लौटे, तो उन्होंने आपकी कई बातें की। इतने में जल्दी ही विजय का समाचार भी पहुँच गया और मैं ·····" वह रुक गई, तनिक घबराई, फिर सम्भली और फिर उसने मुसकरा कर कहा, "तो, तो······अमरावती में आप पांच साल रहे ?"

"ज्योति···" हमारी नज़रें मिली। ···और कितनी देर मिली रहीं। उधर से भूपेन्द्र आए और उसके साथ ही विक्रमादित्य और उपेन्द्र। विक्रम ने राजछत्र वाहक से नाराज़ होकर उसे हाथ लगा दिया था। राजछत्र-वाहक जी अपवित्र हो गए थे और अब वह बड़ी दीदी को बता कर स्नान करने जा रहे थे।

# २६

एक शाम मैं विजय नगर के अश्व-पथ पर सवारी करके लौट रहा था कि एक सवार सामने आकर रुका।

मैंने उसकी ओर देखा। वह आयु में निःसन्देह बहुत वृद्ध था, पर उसका हाव-भाव और स्वभाव युवकों की भांति था। उसका माथा चौड़ा था और पगड़ी बड़ी। सैनिक पोशाक थी, भले ही पुरानी और सवारी जूता था, भले ही टूटा हुआ। यौवन के दिनों में वह अवश्य ही स्वाभिमानी और वीर सैनिक रह चुका लगता था।

मैं उसे एक नज़र देख कर चलता गया। मुझे लगा कि जैसे वह मुझे पहचानने की कोशिश कर रहा है।

"सेनापति जी" आखिर उसने बुलाया।

मैंने नीलकंठ को रोका। वह मेरे नज़दीक आया।

"प्रणाम, सेनापति जी" उसने फिर कहा। उसकी आवाज़ धीमी थी, उसका स्वर भेद-भरा और स्नेहपूर्ण।

"मैं समुन्द सिंह हूं और राजगढ़ से आपको मिलने आया हूं।"

मैंने 'स्वागत' कहा। घर चलने के लिए ज़ोर लगाया, पर 'मैं

न जा सकूंगा,' उसने कहा । साफ पता चलता था कि वह अब जोर लगाने पर भी नहीं मानेगा।

मैंने दृष्टि टिका कर उसकी ओर देखा । उसकी दृष्टि और आंखें गहरी थीं, बीते हुए लम्बे और अनेक वर्षों से ग्रसित।

"मैं क्या कर सकता हूं आपके लिए ?" मैंने अन्ततः पूछा।

"मैं आपको एक बात बताने आया हूं, सेनापति।"

और कुछ पल ठहर कर वह कहता गया, "मैं घर तो जरूर चला जाता, पर मुझे जल्दी है। मैंने कल शाम तक राजगढ़ पहुंचना है।"

स्पष्ट था कि जो बात भी वह बताने आया था, वह अवश्यक और रहस्यमय थी । अश्व-पथ को छोड़ कर पास ही उजाड़ की ओर नीलकंठ का मुंह मोड़ा। वह भी मेरे पीछे हो चला। एक एकान्त जगह पर आकर मैं रुका। सन्ध्या गहरी हो चुकी थी।

"कहिए सरदार समुन्द सिंह !

"मैं राज गढ़ से आया हूं सेनापति .....!"

मैं आगे सुनने की प्रतीक्षा में कुछ न बोला।

"मैंने आपको कुछ बताना है।" उसने दोहराया।

"कहो न सरदार समुन्द सिंह !"

"सेनापति " वह एक दो बार झिझका, पर फिर जैसे जी को कड़ा करके कहता गया..." संयुक्ता का परसों स्वर्गवास हो गया है......।"

मैं अवाक् होकर उसकी ओर देखता रहा । मेरे भाव स्तब्ध हो गए। हम साथ-साथ घोड़ों पर सवार हुए खड़े थे। चारों ओर कहर की चुप थी। मैंने महसूस किया जैसे मैं नीलकंठ से गिर पड़ूंगा।

'मैं आपको यह हृदय वेधक समाचार सुनाना नहीं चाहता था, पर राहू ने मजबूर किया था। उसने मुझसे वचन लिया था कि कभी न कभी यह बात आपको अवश्य बताऊं आपकी आधी भटकन मिट जायगी।"

मैं उसके एक-एक अक्षर के उच्चारण को सुन रहा था। मैं चुप रहा। समुन्द सिंह सयाना था, वह मेरी मुश्किल जान कर कहता गया :

"राहू का पिता मेरा परम मित्र था——" जैसे अपने मुंह में आई बात बताने से वह डर गया हो। पर उसके इस अटकने के कारण मेरा डर उसके डर से कहीं अधिक था। मैं उससे बहुत कुछ सुनना चाहता था। मैं उसके एक-एक अक्षर के बदले में बहुत कुछ देने को तैयार था।

"सरदार समुन्द सिंह।"

उसने मेरी लालसा जान ली।

"आपको याद होगा, आप और राहू एक बार हमारे यहां आए थे, राज पिप्पले में" और जैसे वह वहां जाने को प्रत्यक्ष देख रहा हो! "आज उस बात को सत्रह लम्बे बर्ष हो गए हैं।"

मुझे उस समय कुछ याद नहीं आता था। जब मैं और राहू राजगढ़ में घूमते रहे थे, तब मैं नौ साल का था। उस बात को पूरे सत्रह वर्ष गुज़र चुके थे। तब हम राजगढ़ में तीन चार गाँवों में ठहरे थे। राज पिप्पल नाम मुझे जाना पहचाना लगता था, पर और कुछ याद न आया।

"आप हमारे घर तीन दिन ठहरे थे," और फिर कुछ देर रुक कर उसने कहा "सँयुक्ता भी वहां ही थी—"।

एकदम उन तीन दिनों की याद जाग उठी। मेरे अन्दर भावों की एक बाढ़ आई। मैं बहुत उत्तेजित हुआ। मैं संयुक्ता को देख रहा था, पहचान रहा था, उसे दुलार रहा था।

"सरदार समुन्द सिंह . ...।" मैंने उच्च स्वर में कहा।

"सेनापति!"

"आप कौन हैं?" दर्द से भीग कर मैंने कहा।

मैं...! मैं सेनापति......मैं संयुक्ता का पिता हूं !"

"सरदार समुन्द सिंह......!" मैंने उसकी ओर देखा। वह दृढ़ था। हाँ, जो कुछ उसने कहा, वह ठीक था।

"और मैं......मैं कौन हूं ?"

"सेनापति..." बृद्ध समुन्द सिंह भी इसी दर्द से दुःखी हुआ। उसने जैसे मिन्नत करते हुए कहा, "सेनापति, बस, बस। और न पूछो, और कुछ न पूछो।"

पर मैं अपने आप पर और नियन्त्रण न रख सका।

"और मैं ...मैं कौन हूं ?" मैंने दोहराया।

सेनापति......आप जो हैं, सो ही हैं" वह रुक गया। उसका सिर झुका हुआ था, पर वह कहता गया :

"पहले गर्भ से श्रीमती मान सिंह जी के जो बच्चा हुआ, वह थोड़ी ही देर जी सका। मैंने सेनापति जी के साथ बरस गुजारे हैं। उनके प्रति आदर के कारण मैंने अपनी संयुक्ता, जो उस रात तीन दिन की थी, उनकी झोली में डाल दी। मेरी स्त्री देविका की सेहत खराब हो गई। पर मैंने कोई परवाह न की। चार पांच वर्ष बीत गए और अन्त में परमेन्द्र ने मुझे संयुक्ता को भगा ले जाने के लिए मजबूर कर दिया। मेरी ममता भी जागी। मृत्यु-सन्निकट देविका पर तरस आया, और मैं......।

"ओह......ओह सरदार समुन्द सिंह।"

मुझे इन कुछ मिनिटों में इतने धक्के लग चुके थे कि मैं बेहोश होकर होश में आ रहा था। बहुत धक्के लगने से आदमी फिर अपने आप में आ जाता है।

"आप सरदार मानसिंह को बड़ी अच्छी प्रकार जानते होंगे ?" मैंने पूछा।

"बड़ी अच्छी तरह।"

"क्या उन्हें भी परमैन्द ने ही विजयपुर छोड़ने के लिए मजबूर किया था ?"

सेनापति...समुन्द सिंह ने मेरी ओर देखा और वह कह रहा था कि वह और कुछ नहीं बताएगा। मैं बड़ा झूठा सा पड़ गया।

"सेनापति, और कुछ न पूछो, मैं अब जाऊंगा !"

"आज रात ठहरो, मैं धन्यवादी होऊँगा।"

"नहीं सेनापति, मजबूर न करो।"

"आप राज पिप्पल में ही रहते हैं ?"

"अब नहीं......हम......पर यह भी जानने की कोशिश न करो, आपके लिए यही इच्छा होगा।"

और मैंने उसे खुले दिल से जाने दिया।

नीलकंठ पर सवार हो मैं धीरे-धीरे घर लौट आया। उस दिन पहली बार मुझे लगा कि मैं अपने पहले नीलकंठ पर चढ़ा हुआ हूं। मैं अपने बाल्य-जीवन को नए सिरे से जी रहा था। जैसलमेर और पिता जी, पिता जी की मौत, राहू का प्यार, हरदयाल और शान्ति की स्थिति, और फिर राहू और मेरी वह राजगढ़ की यात्रा। क्या राहू सब कुछ जानता था ? क्या राहू जानता था कि संयुक्ता मेरी सगी बहिन नहीं ? और वह यह भी जानता था कि संयुक्ता कहां है ? राहू के लिए मेरा प्यार एक बार फिर उमड़ा। मैं उसे मिलने को आतुर हुआ, उसके निकट होने का इच्छुक। प्रत्यक्ष रूप में राज पिप्पले के वे दिन मेरे सामने आए। समुन्द सिंह और देविका की याद इतनी स्पष्ट नहीं थी जितनी संयुक्ता की। हां संयुक्ता। कितनी चतुर, स्वाभिमानी और सुन्दर थी संयुक्ता...... और फिर परमेन्द्र। मुझे ठीक ही पता लगा था। परमेन्द्र ही मेरे पिता का घाता था। परमेन्द्र ने ही......और परमेन्द्र था महा मन्त्री

सत्वेन्द्र का पुत्र। और महा मन्त्री मुझे इतना प्यार करते थे। यह क्या था ? क्या रहस्य था आखिर ?

अभी मेरे जीवन में और कितने धक्के खाने को लिखे थे ? मैंने छब्बीस वर्ष की भरपूर युवावस्था में महसूस किया, जैसे मैं बूढ़ा हो गया होऊँ।

* * *

एक दो दिन मैं घबराया रहा। परमेन्द्र मेरे ख्यालों की टेक था। उसने क्यों मेरे पिता को दुःख पहुंचाया। मेरे पिता और उसके मध्य कौन सी अन बन हुई ? कभी कभी मेरे में अत्यन्त घृणा जागती, पर जल्दी ही घृणा का उबाल उतर जाता। परमेन्द्र अब इस दुनियां में नहीं था। मेरी उसके प्रति घृणा अब किस काम आएगी ? यह घृणा केवल मुझे छोटा बनाती थी। मैं क्या कर सकता था। उसकी और पिता जी की सारी कहानी जान कर भी क्या कर सकूंगा ?

पर महा मन्त्री सत्वेन्द्र परमेन्द्र के पिता थे। वह सब कुछ जानते होंगे। वह जो इतने अच्छे थे, तो उन्होंने क्यों न अपने पुत्र को सीधी राह डाला ? और फिर अब वह क्यों मुझे अपने निकट लाना चाहते थे ? क्या पिता जी से की परमेन्द्र की बुराई का वह मेरे साथ भलाई करके बदला चुकाना चाहते थे ? क्या वह जानते थे कि मैं परमेन्द्र की करतूतो के विषय में बहुत कुछ सुन चुका हूं··· ····? और वह कौन सा भेद था। जो वह मेरे सामने खोलते–खोलने नहीं खोल सके थे। क्यों महा मन्त्री मेरे सामने बेचैन हो जाते थे ? क्या था यह सब कुछ ? क्या था ? मैं जानना चाहता था—

संयुक्ता को गँवा कर मैं दिलेर हो गया। मैंने फैसला किया कि मैं महा मन्त्री से अवश्य पूछूंगा।

एक दिन मैं उनके पास गया। मैं दृढ़ था कि भले ही महा मंत्री

कैसे ही पल्ला छुड़ाएँ, मैं नहीं छोड़ूँगा । पहली बार बिना बुलाए मैं उनके घर जा रहा था। जब मैं वहां पहुंचा, तो महा मन्त्री बाहर बगीचे में टहल रहे थे । उन्होंने दूर से ही मुझे आते देखा, तो मुझे लेने के लिए आगे आए। उनकी पगड़ी सफेद थी, मूँछें सफ़ेद थीं, दाढ़ी सफेद थी और सारे वस्त्र भी सफेद पहने थे। चाह और उत्साह भरे जब वह मुसकराते हुए मुझे "स्वागत" कहने के लिए आ रहे थे तो मुझे लगा जैसे कोई देवता मुझे सुख और शान्तिमय नव जीवन देने के लिए पधार रहा हो। यदि मेरे पिता जी जीवित होते, मैंने महसूस किया, तो वह भी ठीक इसी तरह ही लगते—इसी तरह महान् और शोभायमान होते वह भी।

"आ पुत्र कुमार सिंह," उन्होंने मेरे सिर और कन्धे पर प्यार देते हुए कहा।

पहली बार उन्होंने मुझे पुत्र कह कर बुलाया था। पहली बार ही उन्होंने मेरे कन्धे पर हाथ फेरते हुए 'स्वागत' कहा । मेरे लिए यह एक और मौका था। पहली बार ही बिना बुलाए मैं उनके घर आया था और शायद वह किसी ऐसे ही आने की इन्तजार में थे।

हम कुछ देर बाहर ही फिरते रहे। उन दिनों महाराजा जय सिंह और वह विजय नगर राजधानी का शगुन करने की तैयारी कर रहे थे। हम उस सम्बन्ध में बातें करते रहे। उन्होंने विजयी सेना के नए पदाधिकारी के शिक्षण के विषय में मुझसे पूछा। बातें करते २ हम अन्दर चले गए।

आज महा मन्त्री मेरे विशेष स्नेहिल थे। वह मुझे आगे से भी अधिक प्यारे लगे। मुझे लगा कि मैं परमेन्द्र के बारे में उनसे बात-चीत कर सकूंगा। वह उसके पिता थे । भले ही परमेन्द्र कैसा भी हो, पिता के लिए वह पुत्र ही था। महा मन्त्री का और कोई लड़का न था । परमेन्द्र की याद उनके दिल में सदा रहती होगी। मैं डरा,

कहीं मैं उन्हें दुःखी न कर दूं, कोई ऐसी जगह न उखेड़ बैठूं जो अभी भी कच्ची हो। इन तर्कों के विपरीत भी आज मैं कुछ न कुछ जरूर जानना चाहता था...। मैं अपने भावावेग को रोक न सका।

"महा मन्त्री जी" मैंने कहा और झिझका। न जाने क्यों अप्रयास ही मेरे जी में आया कि उनको मैं महामन्त्री की जगह 'पिता जी' कह कर बुलाऊँ। उन्होंने मुझे इतना प्यार दिया था, पुत्र कह कर बुलाया था।

"कहो–कुमार, क्या बात है?" उन्होंने फिर मेरे कन्धे पर हाथ रखा।

"सेनापति! परमेन्द्र और मेरे पिता जी के मध्य कौन सी घटना घटी, महा मन्त्री जी?" मुझे समझ न आया कि किस तरह इस प्रश्न को हेर फेर के साथ पूछा जाय।

महा मन्त्री को थोड़ा सा धक्का लगा। वह कुछ क्षण सामने दीवार की ओर देखते रहे। उन्होंने मेरे कन्धे से हाथ उठा लिया...अन्ततः उन्होंने एक आह भरी और मेरी ओर देखते हुए कहा, "कुमार बेटा, जो हो गया, सो हो गया, अब वह सब पूछने का क्या लाभ, जिसके बारे में अब कुछ किया नहीं जा सकता। परमेन्द्र और सरदार मानसिंह में खटापटी हुई, ठीक, पर सरदार मान सिंह हमें सदा के लिए छोड़ गए। अब गुजरी घटनाओं पर आंसू बहाने का क्या फ़ायदा? फिर उन्होंने मेरे कन्धे पर हाथ फेरा, मुझे प्यार किया।

# ३०

मैं कई दिन उदास रहा ।

महा मन्त्री से भेंट मेरी कठिनाइयों का अन्त नहीं, आदि थी। इस मिलन ने मुझे और भी स्तब्ध कर दिया। धीरे २ सारे अचम्भे, धक्के और बीते दृश्य पुनः पुनः बैचैन करने लगे और बारी-बारी से सभी को उचित उदासी का कर देना पड़ा।

मुझे जान नहीं पड़ता था कि अब क्या करूँ ? मेरा कोई सलाह-कार न था और न ही कोई आन्तरिक मित्र। मैं किसी को कुछ बता नहीं सकता था, किसी से कुछ पूछ नहीं सकता था। सब कुछ होते हुए भी मैं एकाकी था।

इस जैसे घातक एकाकीपन में केवल ज्योति का ख्याल बार-बार मेरे गिर्द घूमता रहा। पुनः पुनः ज्योति अपनी मधुर मुसकानों के साथ मेरे मेघाच्छादित आकाश पर तारे बन कर चमकती रही। बार-बार अपने तेजस्वी नयनों से मेरे ग्रसित पथ पर रहस्यमय पर आशापूर्ण संकेत करती रही। मैं सोचता, क्या यह ज्योति ही है ? ज्योति ही, जिसे मैं ढूंढ रहा था ? क्या ज्योति ही मेरी सब इन्तजारों का अन्त

बनेगी ? क्या ज्योति ही मेरे सन्तोष का केन्द्र बनेगी ? क्या वही मेरे जीवन का ध्रुव तारा है ? मैं सोचता······

ज्योति और मेरे में बहुत कुछ समान था—हमारा साहित्य और संगीत-प्रेम, हमारी भविष्य की ओर आशावान होकर देखने की आदत, हमारा······हां और कितना कुछ और।

हां, हम एक दूसरे के लिए ही तो बनाए गए लगते थे। एक दूसरे के लिए ही ·····

इस उदासी और व्याकुलता से बचने के लिए मुझे ज्योति की नारी नज़र आई और अपने वातावरण से मुग्ध, एक पूर्णिमा की रात, अपने आपको मैंने ज्योति से अभेद कर दिया।

* * *

पूर्णिमा की रात थी और हमारी पहली इकठी पूर्णमाशी।

ज्योति और मैं अकेले थे। महकती हवा में नव जीवन का सन्देश था और चाँदनी में बादलों जैसी भरपूरता और गम्भीरता। पुष्प, पौधे, हरी घास की कोंपलें, सघन वृक्ष, सभी किसी होने वाली घटना की प्रतीक्षा में भारी हुए लगते थे।

मुझ पर भी एक भारीपन छाया हुआ था। प्रतीक्षा थी मुझे भी, एक तीव्र प्रतीक्षा ! ज्योति गम्भीर थी। हम कुछ देर धीरे-धीरे हरी घास पर चलते रहे ऐसे वातावरण में, ऐसे अनुभवों में कुछ कहना असम्भव था।

चलते-चलते मैं रुक गया। ज्योति भी खड़ी हो गई। मैंने ज्योति की ओर देखा। उसने मेरी ओर। आड़ू के वृक्ष की छाया थी, कोमल-कोमल, नाजुक, फैली हुई आड़ू के वृक्ष की तरह, चारों ओर फैले नारीयल में जैसे डर रही हो, काँप रही हो। आड़ू की पतली पत्तियों में से छन कर आती चांदनी की किरणें ज्योति के मुख पर पड़ रही थी। और कहीं कहीं पत्तियों की

नाजुक परछाइयां उसके वस्त्रों को स्पर्श करती थीं। मैं ज्योति के सामने खड़ा था और मेरे चेहरे पर चन्द्र की चाँदनी की जगह ज्योति की चांदनी का प्रकाश था।

एकाएक मुझे सारी वनस्पती इन्तज़ार और सन्तोष की सीमा पर पहुंची दिखाई दी। मेरा सब्र भी समाप्त हुआ। मैंने अपना हाथ ज्योति के कन्धे पर रखा और धीमे स्वर में कहा……"ज्योति……।"

उसने अपनी आंखें मेरी आँखों में डाल, उन्मत्त होकर कहा, कुमार जी……"

मैंने उसके कन्धे को सहलाया, उसका दायाँ हाथ अपने बाएं हाथ में लेकर अन्त तक का बचन दिया, "ज्योति प्रिय……।"

"प्रिय कुमार……" और उसका हाथ काँपा। वह सब कुछ स्वीकार करती थी। वह हमारे चिर साथ पर प्रसन्नता के पुष्प चढ़ाती थी। मेरी उदासी का बोझ उतारने के लिए तैयार थी, सदा के लिए, सदा के लिए।

मैं मुसकराया, उसकी ठुड्डी तले उंगली रख कर मैंने उसका मुंह ऊँचा किया। वह भी मुसकरा रही थी।……और …सहसा ही मुझे ज्ञान हुआ, मैंने देखा कि आडू की परछाईं में नया उभार और निखार आया। पवन ने नये सौन्दर्य से शरीर को छुआ। चन्द्र–चांदनी का चिर हल्कापन फिर से साकार हुआ।

उस क्षस से ज्योति को मैंने अपनाया और ज्योति ने मुझे ….."

× × ×

आगामी पूर्णिमा हमारे मिलन की तेरहवीं वर्षगांठ होगी। यही ज्योति और मेरे जीवन का एक महत्वपूर्ण उत्सव है और बाद में हर पूर्णिमा भी हम एक उत्सव की भांति ही मनाते आए हैं।

सौभाग्यशाली हैं वे प्रेमी–युगल, जिनके जीवन में हर महीने पूर्णिमा जैसा एक मधुरता और शीतलता से भरपूर उत्सव है।

हर महीने, ज्योति पूर्ण चन्द्र की तरह मेरे जीवन को पूर्ण कर देती है और मैं ज्योति के जीवन को। कम से कम ज्योति इसी तरह कहती है……

"प्रिय कुमार" ज्योति ने कहा था और उसी क्षण से किसी के चिरन्तन साथ की मेरी भटकन मिट गई थी। भविष्य का सारा दृश्य एक क्षण में बदल गया था और मैंने महसूस किया कि आगे से मैं कभी किसी के साथ के अभाव के कारण बेचैन न होऊँगा। और धन्यवाद ज्योति का, उसने मुझे कभी नीचा न दिखाया। हर उस कठिन क्षण में जब मैं माथे पर हाथ धर कर गम्भीरता से सोचने पर मजबूर हो जाता रहा हूं, ज्योति मेरा हाथ पकड़ कर मेरी आंखों में देखकर मुस्करा देती और कहती रही है।

"आप इस निगोड़ी चिन्ता के लिए बहुत बड़े हैं "प्राण" उसकी मुस्कान और उसके ये शब्द मेरी उदासी और चिन्ता को दूर करने में असफल रहे हों, पर कभी असफल नहीं रही उसकी यह प्रेरणा, पूर्णिमा दूर नहीं कुमार! प्रिय कुमार, और उसकी प्रतीक्षा क्या आप इस तरह निराश होकर करेंगे?"

ज्योति में जीवन–धारा मुझसे कहीं अधिक तेज बहती है। उसके उद्वेलित चाव का स्रोत अमर है। प्रत्येक उषा वह निशा के स्वर्णिम रंगों की प्रतीक्षा करने लगती है और हर साँझ–समय उसे आगामी सूर्योदय मनाने की इन्तजार होती है। वह वास्तव में कलाकार है। दिन और रात का हर पल वह अच्छे काम में लगा कर गुजार सकती है, और उसके सन्तोष का कारण ही यही है……"जीवन में एक नियम हो और वर्तमान में सुख मानते हुए भविष्य में सुख की लगन हो।" वह कहती है।

ज्योति ने मुझे बाताया कि वह मेरी इन्तजार में थी। जब मैंने हल्दी का युद्ध जीता था, तो सेनापति भगवान सिंह इतने खुश हुए

थे कि उनकी खुशी सारे परिवार को छू गई थी। ज्योति भी उसमें शामिल थी। और उन दिनों उसने अपनी कल्पना में मेरा आकार स्थापित कर लिया; यह स्वाभिमानी योद्धा, यह युवक सेनापति, यही क्या उसके स्वप्नों का नायक—हां, मेरे चित्र भी वह अपने भावों के स्वप्निल रंगों में रंग रही थी!

उसने मेरे सम्बन्ध में सब कुछ जानने का प्रयत्न किया और सब कुछ जान लिया। उसने मेरी और शकुन्तला की प्रेम-कहानी भी सुनी। पर मुझे विश्वास हो चुका था, उसने मुझे एक बार बताया कि आप मेरे हैं। हज़ार शकुन्तला भी हमारे मिलाप में नहीं खड़ी हो सकतीं। आप मेरे लिए बनाए गए हैं और जब मैं अपनी ओर देखती थी तो कहती थी कि एक मैं ही आपको पूर्ण और सुन्दर साथ दे सकती हूं......।"

"और फिर एक शाम आप हमारे घर आए" उसने किसी और समय मुझे प्यार-पूर्वक कहा, "और मैंने आपको दूर से आते हुए पहचान लिया। ऐसी अनुपम पद-चाप से ऐसे आकर्षक हाव-भाव से, इस तरह अपने मस्तक पर तारे लटकाए और कौन आ सकता था? मैंने आपको देखा, मैंने आपको पहचाना, मैंने आपको अपनाया और मैंने कहा......" कोई शक्ति हमें अलग नहीं रख सकती।"

और ज्योति ने मुझे अन्तिम दिन तक आभास न होने दिया कि उसने कभी मेरे लिए कुछ ज़रा भर भी महसूस किया है।

स्त्री .....! इसी आत्म-नियन्त्रण में है तेरी शक्ति और इसी में तेरी विजय।

मैंने ज्योति को धीरे-धीरे सब कुछ बताया।

वह संयुक्ता के विषय में पहले भी सुन चुकी थी, किन्तु महा मन्त्री की मेरे लिए विशेष कृपा का अनुमान वह नहीं लगा सकी थी। और भी कई बातें थी जो हमें पहेलियों की भांति तंग करती रहीं

पर अब हम दो थे और इकट्ठे होकर रहस्यों का बोझ उठाना कठिन नहीं होता।

हां, प्यार के वे पहले दिन। वे भी अपने आप में एक कहानी थे और अत्यन्त आकर्षक कहानी। भले ही ज्योति और मेरा प्यार नित्य नवीन है, पर फिर भी वे दिन फिर से जीने को जी करता है। लम्बी वियोग की घड़ियां, क्षणभंगुर मिलन मुस्काने, आंसु, हँसी, उपालम्भ, गिले और मनाने के प्रयत्न।

ज्योति मेरे जीवन में आई, सारा जीवन, सारा जगत, धरती आकाश जैसे एक ताल में बंध गए। उसके नशीले नयनों, मधुर संगीत, पवित्र भावों और सुन्दर स्वप्नों में मुझे एक सरल, व्यापक हल्केपन का फैलाव होता मालुम हुआ। मुश्किलें आसान हुई, चिन्ताएँ समाप्त हुई, उलझनें सुलझ गई, अन्तरात्मा की एक अदृश्य शक्ति के कारण सारी उदासीनता और सारे भय लुप्त हो गए।

ज्योति आई और मेरे बचपन की शोक पूर्ण स्मृतियों पर किसी रंगीन भाव का प्रकाश बिखर गया। पिता जी का अन्त एक सुखकर रूप धारण करके मेरे सामने आया। मुझे मेरा यश फिर से मिला, हल्दी की जीत प्यारी लगने लगी, पानीपत की याद रसमयी हो गई।

ज्योति मेरे जीवन में आई और जैसे चाव और उत्साह की बाढ़ मेरे शरीर, मेरे भावों में रच गई। मेरा दिल अपने आपको देश-जाति और अपने साथियों पर न्योच्छावर करने को होता था। मैंने अपने भीतर एक अथाह बल का स्रोत अनुभव किया। मुझे अपने गिर्द बिखरे एक तेज का आभास हुआ और मुझे लगा, जैसे इस तेज का प्रकाश भविष्य में कभी अनिश्चित या धुँधला नहीं होगा।

# ३१

वास्तव में उचित यह था कि मैं महा मन्त्री को नव जीवन के प्रारम्भ की सूचना देता।

वह दिन प्रतिदिन मेरे निकट आ रहे थे और मुझे अपने निकट रहने को मजबूर करते थे। अधिक दफा नहीं, पर कभी–कभी, मैं अब बिना बुलाए भी उनके यहां चला जाता था और इस तरह वह उलटे मेरा अधिक आदर करते थे। मैं महसूस कर रहा था कि वह मुझ पर अपना कुछ अधिकार समझते हैं। जैसे एक बार जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं मेहनत अधिक करता हूं और आराम कम, तो उन्होंने कहा; "ठीक है, कुमार, कि मनुष्य अपने आपको आग में डाल कर कुन्दन बनता है, किन्तु अपने आप पर इतना अत्याचार भी उचित नहीं।"

सो वस्तुतः उचित था, मैंने महसूस किया, कि उनसे ज्योति और अपने भावी दाम्पत्य जीवन के विषय में बात करूं।

एक दिन मैंने अवसर पा लिया।

वह सुन कर एकदम चुप हो गए, जैसे उन्हें इस बात की पहले

आशा न हो। उनके मुख पर कुछ उदासी के चिह्न प्रकट हुए। पर जल्दी ही उन्होंने अपने आपको सम्भाला। "प्रभु करे, आपकी जोड़ी अपनी मिसाल आप बने। मेरी शुभ कामनाएं सदा आपके साथ होंगी। मैं सेनापति भगवान सिंह से बात करूंगा।"

मुझे लगा जैसे महा मन्त्री कह रहे हों कि मुझे इस विषय में उनकी सलाह पहले लेनी चाहिए थी। वह स्वयं इस उत्सव का उत्तरदायित्व लेना चाहते थे। वह स्वयं कुछ करना चाहते थे, कहना सुनना चाहते थे। मैंने भी कुछ इस तरह ही महसूस किया। मुझे उनकी आवश्यकता अनुभव हुई। मुझे राणा सवाए सिंह और माता कान्ता की जरूरत महसूस हुई।

महा मन्त्री ने सेनापति भगवान सिंह से बात की। सरदार भगवान सिंह देर से इस रिश्ते के विषय में सोच रहे थे। जिस समय मैं राजगढ़ में उनको अपनी ओर से युद्ध की चाल बता रहा था, उस समय ही उन्होंने सोचा था, "कुमार सिंह मेरी ज्योति का वर हुआ। "श्रीमती कुशेमरां को भी मैं बड़ा अच्छा लगा था। उन्होंने मेरे में अपने मनोरम की प्रतिमा देखी, जो विक्रम की आयु का होकर उनकी कोख खाली कर गया था। महामन्त्री ने सारे परिवार को एक बार अपने घर खाने पर भी बुलाया। ज्योति भी थी, मैं भी था। इस समागम के दो तीन दिन बाद महा मन्त्री ने मुझे मेरे चुनाव पर खुले दिल से बधाई दी, और उस दिन वह सचमुच ही प्रसन्न थे। मैंने उन्हें पहले कभी इतना प्रसन्न न देखा था

× × ×

ज्योति कई बार कहती है कि वह मुझे अभी तक पूरी तरह पा नहीं सकी। मैं इतना अथाह हूं! ज्योति के लिए शायद मैं विशाल होऊं किन्तु स्वयं मैं दिन गुजरने से बड़ा–बूढ़ा महसूस करने की जगह छोटा-छोटा महसूस करता हूं।

यह तो हुआ ज्योति की ओर से, और अपनी ओर से। यह अतिशयोक्ति तो न होगी यदि मैं कहूं कि हर प्रातः ज्योति मेरे लिए नव-विकसित पुष्प की भांति है; हर उषाऔर निशा की भांति भले ही ज्योति वही होती थी, पर फिर भी उसमें एक नवीनता होती थी, एक न धुई जाने वाली, रंगीन ताजगी।

ज्योति केवल वह ही नहीं थी, जो महाराज विक्रमादित्य की सभा में राज गायिका बनी और जिसने अपनी चित्रकला से मुझे मुग्ध कर लिया था। ज्योति और भी बहुत कुछ थी। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए और मैं उससे अभेद होता गया, वह और और विशाल होती गई। नहीं कह सकता कि क्या यह एक ज्योति में दो मूर्तियों के अभेद हो जाने का भेद है?

उन दिनों हम हर चौथे-पांचवें दिन मिलते रहे। मैंने उसके आगे अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं का फैलाव फैलाया और उसने मेरी तुच्छ इच्छा को चूमा, सत्कार किया, प्यार किया। मैंने उसके आगे अपने भूत में से कई बचकाना कहानियों की चर्चा की और उसने अपनी मुसकानों से उन्हें अनुपम स्मृतियां बना दिया। मैंने उसके आगे रोहिणी और शकुन्तला की कथा कही, तो उसने अपने प्यार की गर्मी में छिपा लिया।

हम एक दूसरे में अभेद होते जाते रहे थे, तो कभी बन्द कली की तरह अकेले होकर प्रसन्न होते जा रहे थे, और कभी पूरी तरह खिल कर सभी के साथ में सन्तोष प्राप्त करते थे।

और अब तक उन दिनों की ताजगी हम भर बिखरी है।

माता कान्ता और राणा सवाए सिंह को महा मन्त्री ने निमन्त्रण भेजा। चितरंजन और पृथ्वीसेन भी आए, मेरी ओर से महा मन्त्री ने सारी रस्म पूरी की। महाराज जय सिंह को बुलाया। विजय नगर के पास के गांवों से जनता भारी संख्या में पहुंची। जैसलमेर से

महाराजा सुन्दर कुल और बलेश्वर तथा सचखंडा के प्रतिनिधि आए। महा मन्त्री जी की दोनों लड़कियों गीता और शशी से भी भेंट हुई।

और जैसे एक पूर्णिमा की रात ज्योति और मैंने अपने आपको एक दूसरे के अर्पण किया था, वैसे ही एक पूर्णिमा की रात ज्योति और मैं दुनियाँ की नज़रों में भी एक हो गए।

# ३२

मेरी जीवन-कहानी अपने अन्त के निकट पहुंच रही है।

ज्योति के साथ जीवन-परिचय होने के बाद आज तक का समय मेरी ज़िन्दगी का वर्तमान युग है। और वर्तमान भूतकाल की अपेक्षा सदा फीका लगता है। सब कुछ निकट होता है और निकट की वस्तुओं का पूरा मूल्य हम नहीं चुका सकते। किसी के प्यार, घृणा, मित्रता, शत्रुता, की असली थाह देर बाद मिलती है। आज के राजनीतिक फैसलों के हल और युद्ध जीतने-हारने के कारणों की महत्ता समय पाकर ही स्थापित होती है। वर्तमान मेरे इतना निकट है कि मैं इसे अपने से भिन्न नहीं कर सकता और इस सही नाप-तोल के लिऐ अपने आपको अपने आप से अलग करना बड़ा जरूरी है।

यही नहीं, मनुष्य के जीवन में समय आता है जब कि बचपन और जवानी की रंगीनी मद्धिम पड़ जाती है। जब कि बहुत कुछ होता हुआ भी जीवन-कहानी के लिए बहुत कुछ नहीं होता। किसी

का चिरन्तन साथ पाने की भटकन समाप्त हो जाती है। प्रथम इच्छाएँ और आकाक्षाएँ पूर्णता को छूती हैं और सिवाए कुछ देर नियम-बद्ध जीवन बिताने के और कुछ किया नहीं जा सकता।

इसके विपरीत भी मेरा वर्तमान-जीवन घटनाओं से भरपूर है, पर वे इस जीवन-कहानी में छिपाई नहीं जा सकती। सचखंडा से लड़ाई की सारी वार्ता, जैसे मैं कह आया हूं। मैंने "ज़िन्दा विजयपुर" में अंकित की है और राजस्थान के संयुक्त राज्य की वार्ता "अमर ज्योति" में। प्रस्तुत पुस्तक का सम्बन्ध मैंने अपने साथ रखा है और हर अतिरिक्त विस्तार को कम करने का प्रयत्न किया है।

* * *

राजस्थान के संयुक्त राज्य का जो बीड़ा मैंने अपने चौबीसवें-छब्बीसवें वर्ष के बीच उटाय, उसके लिए विजय नगर में बिताए नियम-बद्ध जीवन ने मेरी बहुत सहायता की। महा मन्त्री जी ने मेरी राजनीतिक-शिक्षा और सूझ की ओर विशेष ध्यान दिया। कई छोटी-मोटी समस्याएँ वे मेरे आगे रखते और उनके समाधान मुझ से पूछते। कभी-कभी मुझे देर तक बिठा कर कोई विषय समझाते। तब मुझे कभी २ याद आते थे बचपन के वे दिन जब पिता जी मुझे शिक्षा देते थे। जैसे उनके सिखलाए शस्त्र-विद्या के हाथों ने मुझे चारों कोनों में नाम कमाने की शक्ति प्रदान की, वैसे ही मैं कहता हूं कि महा मन्त्री जी की मेहनत ने राजनीति में परिपक्व कर दिया। मेरे जीवन की अधिक कमाई पिता जी की और महामन्त्री सत्वेन्द्र की कमाई है।

इन वर्षों में ही मुझे अपनी पुस्तक "महान् भारत" लिखने का ख्याल हुआ और मैंने इसके लिए सामग्री इकट्ठी करनी शुरू कर दी। किन्तु उस समय एक चौथाई भाग ही लिख सका। बहुत

व्यस्तता थी, बहुत मामले थे, जिनका विस्तार इन पृष्ठों के लिए नहीं।

भारत और देश-प्रेम मेरे जीवन में जीती-जागती शक्ति बन गया था। मुझे महसूस हुआ कि उससे पहले मैं किसी सीमा तक आत्म-हितैशी रहा था। अपनी निजी-इच्छाएं थीं और निजी उमंगें। वीर बनने की चाह थी, बड़ा बनने की लालसा थी। अपने और पिता जी के विषय में जानने की भटकन थी। ठीक, मेरे में राजपूती खून खौलता था और हर कदम सचेत हो उठाया जाता था, किन्तु देश और जाति के लिए हर पल उकसाने वाला भाव न था। ककोरम की लड़ाई और वहां की वाह-वाह ने मेरी निजी भूख को मिटाया था, हल्दी की विजय के अवसर पर मुझ में अपनी जाति के लिए सम्मान पैदा हुआ और पानीपत की लड़ाई के समय जाति और देश का मान अपने मान से कहीं पहले आया। फिर भी अहं का अन्त इतनी पूरी तरह नहीं हुआ, जैसे बाद में आकर।

हां, और मैं कह सकता हूं कि जितना सन्तोष देश के लिए विजयी होकर और देश के लिए विजय प्राप्त कर हुआ है उतना अपनी चाह की पूर्ति करके कभी नहीं हुआ और न हो हो सकता है।

देश मेरा प्रिय है। मेरा और ज्योति का। वह भी अपनी कला, अपने गुण और प्रत्येक कार्य को देश की भेंट करती हुई सन्तोष प्राप्त करती है। "यदि मैंने 'विहाग' 'जै जै वन्ती' पुरिया और सन्ध्या के रागों में प्रवीण होकर प्राचीन गवैयों की परम्परा को जिन्दा रखा है, तो यह मेरा नहीं, भारत का गौरव है। उसकी मिटी और उसकी हवा ने ही मुझे इस योग्य बनाया है' वह कहती है। देश-प्रेम की भावना हम दोनों में इतनी घुल मिल गयी है कि हम एक दूसरे से अलग होते हुए भी अकेले नहीं रहे, भारत सदा हमारे साथ रहा है। यह भाव जिन्दा, सांस लेता हमारा चिर साथी रहा है। "प्रणाम,

प्रणाम, प्रणाम तुझे, ओ पवित्र तथा महान देश ! प्रभु हमें तुम्हारे योग्य बनाए।" हाँ, यह हमारी कई बार एकत्र प्रार्थना रही है।

*　　　*　　　*

ज्योति ने मेरे जीवन को भर दिया। इतना रस था, इतना स्वाद था, उत्साह था, चाव था, हर बीता दिन एक कहानी लगता था। हमारा हेमन्त कुमार, इन वर्षों में चार साल का हो गया। चंचल, वीर, स्वाभिमानी हेमन्त ! मुझे आशा थी कि मुझे कभी नीचा नहीं दिखाएगा, और अपने देश के योग्य बनेगा। मुझे प्रसन्नता है कि मेरी आशा के पूरी होने के चिह्न प्रकट हो रहे हैं। हेमन्त दस साल का हो गया है और बाहु-बल तथा आचरण की दृढ़ता में अपनी आयु से कहीं बड़ा है।

पहले पहल तो ज्योति और मैं एकाधिक बार देव नगर गए, पर राणा सवाए सिंह जी के अन्त के बाद मैं लगभग डेढ साल के लिए माता कान्ता को अपने पास ही ले आया।

आह ! क्या है, यह जिन्दगी ? मौत हर पल अगले मोड़ पर हमारी इन्तजार कर रही होती है ! मौत की छाया तले ही जिंदगी पलती है और फलती फूलती है। मौत जिन्दगी से ढेर शक्तिशाली है। कई बार जीवन के सारे सालों की कमाई मौत के सम्मुख मिट्टी की मुट्ठी लगती है, सारी जिन्दगी हास्यास्पद, तुच्छ तथा भाव रहित लगती है।

राणा सवाए सिंह जी गए और मुझे एक बड़ा धक्का पहुंचा। उन्होंने मेरे लिए बहुत कुछ किया था। उनके अन्त के बाद मुझे जीवन और जगत की नश्वरता के ख्याल आते रहे और मैं पूछता रहा, "क्यों, क्यों है यह भाग-दौड़, मेहनत, हत्या और यह सब कुछ ?" आह, पर जीवन की लगन बड़ी तीव्र है। कोई मनुष्य बहुत देर के

लिए मौत को हर घड़ी याद नहीं रख सकता। अचम्भा है कि मौत के सम्मुख भी मनुष्य उन्नति करता आया है और कर रहा है।

निःसन्देह मौत ज़िन्दगी को जीत लेती है, पर ज़िन्दगी भी मौत से चिर-पराजित नहीं हो जाती।

राणा सवाए सिंह जी गए और माता कान्ता अकेली रह गई। अकेली ही हुई न! पृथ्वीसेन देवनगर से दूर था। सुमेर सिंह को भी व्यापार खींच कर अमरावती ले गया था। उषा ब्याही जा चुकी थी और मनोरम, अभी थोड़ी देर हुई सेना में भर्ती हो गया था। सारा परिवार देवनगर में दो बार इकठा हुआ। ज्योति और मैं भी सम्मिलित थे। किन्तु हम अधिक देर इकट्ठे न रह सके। सारे अपने २ काम में लगे हुए थे और हर एक की कोई न कोई काम इन्तजार कर रहा था।

सोचता था और सोचता हूं कि बस यह कुछ ही रह जाना है, बसते-रसते परिवारों का? चार दिन एकत्र होकर भी अपने आपको भूला नहीं जा सकता? कहां था वह परिवार, जिसमें लगभग बीस साल पहले मैंने, तेरह वर्ष के कुमार सिंह ने सुख और शान्ति ढूंढी थी।

नये घर बस जाते हैं और पुराने उजड़ जाते हैं। संसार में आए नये मेहमान गद्दीदार बनते हैं और गद्दीदार मेहमान।

सेनापति भगवान सिंह के स्वर्गिक परिवार में भी रौनक घट रही है। ज्योति ने नया घर बसाया है। विक्रम सिंह भी ब्याह करके अपने काम में लग चुका है। धीरे-धीरे उपेन्द्र और भूपेन्द्र भी मां-बाप का घर छोड़ जाएंगे। और मैं सोचता हूं, क्या हमारे साथ भी यही होगा?

कितना दर्द-भरा है मनुष्य का जीवन?

* * * * *

ये छः वर्ष जिनका उल्लेख मैं इस कांड में कर रहा हूं, पिछले

पचास वर्षों में ये पहले वर्ष थे जब कि भारत की धरती किसी बड़े युद्ध के खून से न रंगी गई थीं। सभी शान्तिपूर्वक अपनी अपनी सीमाओं में ही रहे। छोटी-मोटी शरारतें अवश्य हुईं, परन्तु युद्ध तक नौबत न पहुंची। जैसे बलेश्वर के महाराजा ने एक बार सारे मुसलमान व्यापारियों को अपनी राजधानी में से निकल जाने की आज्ञा दी। बात बढ़ती गई और अन्त में महा मन्त्री सत्वेन्द्र ने मीर अफ़जल से मेरी मित्रता को सामने रखते हुए मुझे वहां भेजा और मैंने दोनों रियासतों में शान्ति स्थापित कराई। तांगेड़ और फरीदाबाद में भी कुछ गड़बड़ हुई, पर मीर जहान ने बीच में आकर सुलह करा दी।

पर मुझे दिखाई दे रहा था कि यह शान्ति अधिक देर न ठहरेगी। महानन्दक का नया राजा दलपत तफरीह से तंग आकर उबासियां और अंगड़ाइयां ले रहा था। सचदेव मर चुका था और उसका पुत्र सोमनाथ उसकी जगह गद्दी पर बैठा हुआ था। दलपत जवान था और तेज़ स्वभाव सोमनाथ पिता से मूलतः उलट कमज़ोर और डरपोक था और इस तरह दलपत उसकी कमजोरी से लाभ उठाना चाहता था।

लाहौर प्रान्त की नज़र तांगेड़ पर थी। और सच तो यह है कि सचखंडा की लड़ाई के बाद लाहौर प्रान्त ने अपनी नज़र तांगेड़ पर से उठाई ही न थी। बहाना बना २ कर वह तांगेड़ के राजा से गठ-जोड़ करता रहता था। कभी कभार विशेष व्यापारियों के हाथ उसे उपहार भी भेजता था। दिल्ली का सूबेदार भी अब एक नया योद्धा मुहम्मद्दीन था। वह अपने यश का झंडा झुलाने की सोच रहा था। मीर अफ़जल को वह राजपूतों के हाथ बिका हुआ कहता था और मीर जहान को आधा हिन्दू। वह जैसलमेर की सीमा पर शरारत कर रहा था। विजयपुर और जैसलमेर ही सब राजपूत रियासतों में मज़बूत, शक्तिशाली, और प्रभावशाली रियासतें थीं। और उन सालों में इन दोनों ने मिल कर, आ रहे खतरों का ख्याल करते हुए,

अपने आप को और मजबूत और ताक़तवर बनाने के प्रयत्न चालू रखे। विजयी सेना के अतिरिक्त जैसलमेरी सेना के सारे पदाधिकारीयों को भी मैंने शस्त्र और चाल चलने की शिक्षा दी। सेनापति रामसिंह सेनापति सोमनाथ, जो कंजीवन के बाद जैसलमेरी सेना का सेनापति बना था और मैं, हम तीनों ने दिल्ली प्रान्त और लाहौर के साथ लगती सारी सीमा का निरीक्षण किया और शेष राज्यों आदि की सेना के शिक्षण की अवस्था भी देखी।

देश की हवा फिर भारी-भारी लगती थी और लगता था कि अवश्य कुछ न कुछ होकर रहेगा।

इन दिनों में सेनापति रामसिंह ने योग धारण कर लिया और सन्त कुमार गिरि के चिरसंगी बन गए। यह घटना मेरे जीवन के सारे अनुभवों की एक अद्वितीय घटना है।

सन्त कुमार गिरि योगियों में योगी थे। उनकी आयु उस समय कोई अस्सी वर्ष की थी। उन्होंने तेरह बार देश का चप्पा-चप्पा घूमा था। उनके तप और योग की अनेक कहानियाँ प्रसिद्ध थीं। लोग उन्हें चमत्कारिक कुमार गिरि कह कर बुलाया करते थे। यह सुना गया था कि वह कितने २ दिन रोटी पानी के बिना प्रसन्न रह सकते थे। यदि समाधि लगाई हो तो समय की सुधि नहीं, और यदि कहीं अवश्य पहुंचने की इच्छा हो तो कोसों भर पैदल चले जाते। उनका मठ महानन्दक की पहाड़ियों में था।

अपनी तेरहवीं देश-यात्रा में वह विजय नगर में से गुज़रे। मैं भी मिलने गया। उनके बाएँ हाथ में गीता और दाएं हाथ में माला थी। उनका गेरूआ चोला, लम्बी सफेद दाढ़ी और सिर पर पशमीने से लहराते सफेद केश, जैसे महात्मा बुद्ध नया रूप धारण कर अभी ही आकाश से उतरे हों। मैंने उनके आगे सिर झुकाया था और उन्होंने कहा था—

"चिरंजीव हो, कुमार सिंह । सुनो, देश पर भारी संकट आने वाला है । भारत की आन आपके हाथ में होगी । देखना, देश को लाज न लगे ! सेनापति राम सिंह जी मेरे साथ जाएंगे ।"

उनके चेले रणवीर ने उनकी ओर से मुझे गीता की एक प्रति भेंट की और यह प्रति आज तक मेरी अति कीमती और प्रिय वस्तुओं में एक है ।

उन्होंने जो कुछ कहा, वह सच हुआ । सेनापति राम सिंह जी को वह साथ ले गए, क्यों ? मैं नहीं कह सकता । मैं राम सिंह जी का निकटवर्ती था । मैं उन्हें अच्छी तरह जानता था । ठीक उनमें मैं अद्वितीय भाव देखा करता था, जो उनके बाह्य-जीवन में अलोप होते थे । किन्तु योग ? उनके लम्बे सैनिक जीवन के सम्मुख इसका अनुमान लगाना भी कठिन था । पर वह तब साठ सालों के होने को आए थे और सन्त कुमार गिरी का आकर्षक प्रभाव ! विशेषत: जब उन्होंने मन में कुछ धारण किया हो, सेनापति राम सिंह उनके साथ हो चले । मुझे याद है, बहुत देर बाद तक यह बात सारे विजय नगर में एक मजाक बनी रही ।

सन्त कुमार गिरी जी ने कहा था कि देश पर संकट आने वाला है, सो वह आ गया । वह था दिल्ली प्रान्त और लाहौर का मेल और राजस्थान पर चढ़ाई ।

रणवीर ने बताया कि यह सन्त कुमार गिरी जी की अन्तिम देश-यात्रा थी और वह सभी राज्यों को इस आ रहे संकट की ओर से सावधान करने के लिए अपने मठ से चले थे ! और नि:सन्देह उनकी यात्रा ने संयुक्त राजस्थान स्थापित करने में बड़ी सहायता की । महा मन्त्री सत्येन्द्र के साथ विजयनगर में उन्होंने एक लम्बी मुलाकात की जिसका ब्योरा धीरे २ मुझे महा मन्त्री जी ने बताया ।

सन्त कुमार गिरी आए और चले गए और सेनापति राम सिंह को भी अपने साथ ले गए।

मुझे सेनापति राम सिंह जी की जगह सम्भालने की आज्ञा मिली।

# ३३

उस दिन मैं और ज्योति नाराजगी के जालीदार पर्दे में एक दूसरे को बड़ी तीव्रता से प्यार कर रहे थे।

वह नाराजगी का जालीदार पर्दा ! कई बार इसकी उपस्थिति इतनी आकर्षक होती है, जितनी रतनारे आंचल की। इसमें से देखते हुए ज्योति मुझे रोज से कहीं सुन्दर और मनोहर लगती है। तीव्र प्यार की अमिट निशानी, शीघ्र ही मान जाने में बदल जाने वाला रूठता है और मैं तथा ज्योति सदा रूठते और मान जाते आए हैं। एक ऐसी ही, पर इस बार जरा गम्भीर नाराजगी परसों ही हुई थी, पर माता कान्ता की मेहरबानी, यह लम्बी न हुई।

रात का वक्त था, रोटी हम खा चुके थे, कि महा मन्त्री हमारे घर आए। ज्योति मुझ से बढ़ कर महा मन्त्री को अपना रही थी। सुन्दर वृधावस्था। और युवा नारीत्व की आपस में एकता, मैंने देखा है कि बहुत प्राकृतिक बात है।

ज्योति बहुत दर्द दूर करने वाली आत्मा है। महा मन्त्री जी को प्यार की बड़ी भूख थी, जैसा कि मैंने उनके व्यवहार से अच्छी तरह

जान लिया था। उस आयु में वैसे ही यह भूख बड़ी होती है, और फिर महा मन्त्री तो, जब से मैं उन्हें मिला, किसी विशेष बात से बड़े बेचैन रहते थे। कई बार उनके जीवन का अनुमान करते हुए मैं आह भर कर रह जाता था। महामन्त्री सत्येन्द्र, क्या थे, वह दुनियां के लिए, कितने बली, कितने विद्वान, कितने महान, पर क्या थे वह अपनी घरेलू ज़िन्दगी में? प्यार की चाह में गरीब, प्रेम- भूख में छोटे·········ओफ!

इस जैसी ज़िन्दगी हिम्मत से बितानी सब से ऊंची और सच्ची महानता है। अपना कण-कण जगत, देश या जात को मुसकराते हुए अर्पण कर देना और अपनी छाती की गर्मी के लिए बस आंसुओं और आहों का आश्रय लेना। प्रेम करती स्त्री वैसे भी बड़ी दर्द दूर करने वाली होती है। और ज्योति जैसी कला पूर्ण स्त्री? महा मन्त्री सत्येन्द्र और ज्योति बहुत निकट आ गए।

उस रात महा मन्त्री जी के साथ उनकी दोनों पुत्रियां थीं, गीता और शशी। गीता बड़ी थी और शशी छोटी, पर दोनों मुझसे बड़ी।

सबसे पहले मैं उन्हें अपने विवाह पर मिला था। महा मन्त्री ने उनको विशेष तौर पर बुलाया था। गीता और शशी दोनों इतनी जल्दी मेरे निकट आ गई थीं, जैसे माता कान्ता और उन के बच्चे या जैसे ज्योति और उसके बहिन भाई। उनका स्नेह और निकटता मधुर और उरुण थी और हम सहज ही बहिन-भाइयों की तरह हिल-मिल गए।

शशी में मुझे संयुक्ता का रूप दिखाई दिया। यह बड़ी विचित्र बात लगती है, पर है सच, कि जिन्हें हमने अपने बाह्य-नयनों से न भी देखा हो, वे सदा हमारे मन की नज़रों से अदृश्य नहीं रहते। उनका एक कल्पित चित्र, अवश्य हमारे साथ कलोल करता रहता है। समय

पर या आवश्यकता के समय हम उसी चोखटे में जीते—जागते मनुष्यों को उतार लेते हैं।

नौ साल की अवस्था में मैंने संयुक्ता को देखा था और उसकी आकृति को भूल चुका था। सरदार समुन्द सिंह से बातें करने के बाद जो संयुक्त प्रत्यक्ष मेरे सामने आई थी और उसकी वह सूरत जो मैंने उस वक्त देखी, संयुक्त की नहीं, मेरे मन की कल्पित सूरत थी। उसी सूरत वाली संयुक्ता से मैं कितनी देर बाद तक बहिन-भाई के मूक और दुर्लभ प्यार की चाह को पूरा करता रहा। सरदार समुन्द सिंह स्पष्ट बता गया था कि संयुक्ता मेरी बहिन न थी। परन्तु मैं तब भी उसे अपनी बहिन समझने से चूक न सका। और शशी को मिलते ही संयुक्ता यों मेरे सामने थी, जैसे वह पुनर्जीवित हो उठी हो। यह कैसे हुआ, मैं कह नहीं सकता।

शशी का चेहरा गोल था, रंग सफेद, क़द लम्बा, बिलकुल संयुक्ता की तरह। गीता मेरे से काफ़ी बड़ी थी। फिर भी मैं उससे दूर न रह सका। उसने मुझे अपने निकट रखना चाहा और मैं 'स्वागत' कह कर मुसकराया।

हाँ, तो उस दिन महा मन्त्री और गीता और शशी के आने समय मैं और ज्योति जरा रूठे बैठे थे। इतनी निकटता थी कि झटपट उनके सामने भी नाराजगी का आवरण उतारा न गया और हम एक दूसरे पर दोष मढ़ते रहे। मुझे विश्वास है कि उस रात ज्योति और मैं महामन्त्री को असीम प्यारे लगे थे।

किन्तु मैंने अपने अतिथियों के चेहरों पर इस खुशी के पीछे उदासी की रेखाएं देखीं। कुछ समय पाकर मैंने जानना चाहा। पता लगा, शशी जा रही थी। उसका बड़ा लड़का मधु, जिसे वह दो-चार बच्चों के साथ घर पर छोड़ आई थी, बीमार था और सुन्दर कान्त ने शशी को जल्दी बुला भेजा था। मैं भी सुनकर उदास हो गया। मुझे से

भी अधिक महा मन्त्री का दिल उदास होना स्वाभाविक था। और इसीलिए शायद जब ज्योति शशी और गीता कुछ मिनटों के लिए अन्दर गई, तो महा मन्त्री मेरे निकट आ बैठे।

उन्होंने संयुक्ता और सरदार मान सिंह की बात की। भरपूर उदासी में मुझे उनकी याद ने और भी बेचैन किया। विशेषतः पिता जी की याद, जिनके बारे में महा मन्त्री के शब्द बहुत वेदनामय थे।

एकाएक महा मन्त्री ने मेरी ओर दृष्टि टिका कर देखा। मेरे कन्धे पर हाथ रखा और सूक्ष्म पर भावपूर्ण और स्नेहमयी आवाज़ में कहा, "कुमार पुत्र, क्या तू मुझे अपना पिता जानकर प्यार नहीं कर सकता?"

उस समय उनका प्रभाव इतना दर्दीला था कि मैं भी अपने को रोक न सका।

"पिता जी," कह कर मैंने अपने आपको उनकी गोद में फेंक दिया।

कितनी देर वह मेरे कन्धे को दुलारते रहे।

# ३४

महा मन्त्री सत्वेन्द्र की अथक मेहनत के विपरीत भी संयुक्त राजस्थान की नींव पूरे डेढ़ साल के प्रयत्नों के पश्चात् रखी जा सकी और वह भी अधूरी।

विजयपुर, जैसलमेर, बलेश्वर और अवन्तीपुर के अतिरिक्त और छोटे बड़े राज्य—संयुक्त-राजस्थान में सम्मिलित हुए। इसमें महाराज सुन्दर कुल मुख्य राजा, महा मन्त्री सत्वेन्द्र महा मन्त्री और सेनापति मोहन राज (जैसलमेर), सेनापति हरकिशन (बलेश्वर) और मैं सैनिक सरदार स्थापित हुए। बाद में हर सम्मिलित हुई रियासत और उसकी प्रजा के सामर्थ्यानुसार तीन, दो या एक-एक प्रतिनिधियों की बड़ी सम्मिति बनाई गई!

इस संगठन से तांगेड़, महानन्दक और राजगढ़ अलग रहे, यह बड़ी गौरव-हीनता थी। जब आठ-नौ साल पहले राजगढ़ को हमने जीता था, तो महा मन्त्री सत्वेन्द्र की दया से इस राजधानी को वास्तव में समाप्त नहीं किया गया था और निःसन्देह उसके बाद

उसका व्यवहार बहुत विनम्र रहा। राजस्थान में सम्मिलित होने से उसकी 'न' से पहली बार पता लगा कि राजगढ़ दिल से पूरी तरह सच्चा न था। शायद वह दिल्ली प्रान्त के प्रभाव तले आ रहा था। जैसे भी हो, राजगढ़ को मनाने पर बहुत समय न लगा। महामन्त्री सत्वेन्द्र आप वहां पहुंचे और उन्होंने त्रिभुवन पर जोर डाल कर उसे या तो राजस्थान में सम्मिलित हो जाने को कहा या गद्दी छोड़ जाने को मजबूर किया। त्रिभुवन ने दूसरी बात मानी। उसकी जगह उसके पुत्र कृष्ण चन्द्र ने ले ली, जो जल्दी ही राजस्थान का सदस्य बन गया।

महानन्दक का दलपत कुछ देर और अड़ा रहा। किन्तु अन्त में हमारी ओर से सैनिक प्रतिक्रिया के भय से आप ही मान गया।

मेरा ख्याल है, उसने अपनी भूल जान ली थी, नहीं तो हमारी ओर से सैनिक प्रतिक्रिया तक कोई बात न पहुंची थी।

एक मात्र नांगेड़ ही ऐसी रियासत थी जो राजस्थान की सारी योजना को शुरू से ठुकराती रही।

सेना के सिर पर नांगेड़ से अधीनता स्वीकार करवा लेना कोई बड़ी बात नहीं, पर महामन्त्री कहते थे, "नहीं, इस तरह नहीं होगा। संयुक्त राजस्थान राजपूतों की इकट्ठी कमाई है; इसका सदस्य बनना हर एक की मर्जी और बुद्धिमत्ता पर निर्भर है। अधिक से अधिक मैं किस की अकल को जगाऊंगा। यदि हमने सैनिक धाराओं से काम लिया, तो इस संगठन की आयु लम्बी नहीं होगी।"

शायद वह ठीक कहते थे। महामन्त्री सत्वेन्द्र ने अपने जीवन में बहुत कम भूलें की हैं। तब मैं भी उनका समर्थन करता था, पर ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए, यह स्पष्ट होता गया कि नांगेड़ को सीधी राह पर डालना किसी न किसी तरह जरूरी था। उसका हठ और अहंकार देख कर यह भी प्रत्यक्ष हो जाता था कि सिवाए सैनिक कार्य

के और कोई चारा न होगा।

नित्य समाचार मिलता था कि तांगेड के महावीर और दिल्ली के महम्मदीन और लाहौर के जाफिर अली की मित्रता की गांठ और पक्की हो गई है। महावीर ने यहां तक भी कह दिया था कि मुसलमानों और राजपूतों की किसी भी आ रही लड़ाई में वह हिस्सा न लेगा और न ही उसकी सहानुभूति राजपूतों की ओर होगी।

मैं सोचता हूं कि क्या सचमुच ही मनुष्य इतना कठोर हो सकता है? इतना, कि उसके दिल में देश और जाति के लिए कोई आदर न रह जाय! क्या मनुष्य अपने पतन में बिलकुल दृष्टिहीन हो जाता है? क्या वह सचमुच ही नहीं देख सकता, नहीं जान सकता कि जो कुछ वह कर रहा है, वह उचित है कि नहीं, या कि अपनी करतूतों का घोर अनौचित्य जानते हुए भी वह अपने आप पर काबू नहीं पा सकता? अक्ल और दिल दोनों ही मानने से इन्कार करते हैं। महावीर और दो-चार दूसरों को देख कर भी समझ नहीं सकता! मनुष्य कैसे अपने आप से, अपनी जाति से और अपने देश से द्रोह कर सकता है?

हालात बिगड़ते जा रहे थे।

मुसलमानों ने राजस्थान की स्थापना से अपने पांव उखड़ते देखे। राजपूतों का संगठन उन्हें अपनी वरबादी मालूम हुआ। उन्होंने समझा कि यह आडम्बर उन्हें हिन्दुस्तान में से निकालने के लिए रचा गया है। उन्होंने अपनी चादर में झांक कर देखने की कोशिश न की। उन्होने अपनी सैनिक करतूतों की ओर न देखा। कैसे वे व्यापारियों के वेश में अपने गुप्तचर राजपूत-देश में भेजते थे! कैसे वे राजपूतों के विरुद्ध अपनी प्रजा को भड़काते थे! कैसे वे खुल्लम-खुल्ला सारे भारत पर शासन करने के इरादे प्रकट कर चुके थे। मैं जानता था कि उन्होंने राजस्थान की स्थापना से अपने न लौटाए जानें वाले इरादों के आगे बाँध लगता देखा।

जाफिर अली को, जो अब कब्र में पैर लटकाए बैठा था, जवानी का एक नशा चढ़ा। उसने कहा कि अपने जीवन में ही वह लंकाद्वीप तक इस्लामी झंडा झलते देखने का इच्छुक है। कैसे वह हमारे हाथ से आठ-नौ साल पहले मुंह की खाकर चुप करके बैठा रहा, मैं नहीं जानता। इस अरसे में उसने कोई विशेष तैयारी भी न की और मैंने जाना कि वह आयु भर के लिए सुधर गया है। पर एकाएक उसके पागलपन की खबर हमें पहुंची और हम बड़े हैरान हुए और फिर रोज पता लगता था कि जाफिरअली किसी न किसी बात पर तुला हुआ है।

सोचता हूं, कि मनुष्य और मनुष्य के मन को समझना क्या असम्भव नहीं? कैसे, क्यों, किस तरह, मनुष्य असम्भव करने पर उतर आता है, कहा नहीं जा सकता। मैं अनुमान नहीं कर सकता कि कभी भी ऐसा समय आएगा, जब कि मानव मन को पूरी तरह पढ़ा जा सकेगा। आडम्बर चाहे कोई करता रहे, जैसे आजकल किए जाते हैं। और समय के साथ-साथ निःसन्देह आडम्बर करने मे कमाल बढ़ता जायगा।

* * *

तांगेड़ से राजस्थान की टक्कर लेनी ही पड़नी थी।

और कोई राह नजर न आता था। महा मन्त्री सत्येन्द्र का दृस्टिकोण भी धीरे-धीरे बदलता जाता था। मुसलमान तांगेड़ में बड़ी ज्यादतियाँ कर रहे थे। यहां तक कि जाफिर अली स्वयं भी तांगेड़ आया और तांगेड़ और जैसलमेर की सीमा तक पहुंचा।

अन्ततः फैसला हुआ कि तांगेड़ मे आधीनता स्वीकार कराने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं। उसी समिति में ही मुझे संयुक्त राजस्थान की सेना का सेनापति नियत होने का सम्मान मिला। तीनों सेनापतियों का सैनिक नेतृत्व ठीक नहीं बैठा था।

ठीक बैठ भी न सकता था। बंटी हुई ज़िम्मेवारी में बड़ा कच्चापन होता है। हम तीनों निर्दोष थे और तीनों दोषी भी, भले ही यदि मैं खुल लेकर कह सकूं तो मोहन राय सबसे बढ़ कर। मैंने पहले ही महा मन्त्री को भविष्य में होने वाले असंगठन का उल्लेख किया था, पर उन्होंने राजनीतिक दृस्टिकोण से कुछ समय के लिए इस सुझाव का समर्थन किया।

मेरे सेनापति बनने के बदले में राजस्थान की राजधानी विजय नगर की अपेक्षा जैसलमेर बनी और बलेश्वर के प्रतिनिधियों की संख्या ड्योढ़ी कर दी गई।

तांगेड़ के साथ युद्ध हुआ और जैसी आशा थी, वह दो दिन से अधिक न लटका।

मुहम्मद्दीन और ज़ाफिर अली वक्त पर महावीर के सहायक न हुए। हमारा आक्रमण बड़ा अचानक था और महावीर को भी बस कुछ दिन पहले ही पता चला। अपनी ओर से महावीर ने जाफिर अली और मुहम्मद्दीन की सहायता लेने के लिए हर प्रकार से हाथ पांव मारे, और यदि वे चाहते तो पहुंच भी सकते थे, पर वे न पहुंचें। वे जानते थे कि वे अवसर खो चुके हैं। और अब अपना सारा जोर लगा कर भी वे अपनी शत प्रति शत सफलता की आशा नहीं कर सकते थे। मैं भी यह सब जानता था। उन दोनों में से कोई भी तांगेड़ से सच्चा न था। और न ही उनके लिए तांगेड़ या किसी भारतवासी के लिए प्यार था। महावीर को बेदखल कर दिया और सेनापति मोहन राय संयुक्त राजस्थान की सत्ता की ओर से तांगेड़ के नेता नियत किये गए। उनके देहान्त पर यह पद सेनापति हर किशन को दिया गया।

तांगेड़ की विजय से राजस्थान दृढ़ चरणों पर खड़ा हो गया। राजपूतों के इतिहास में यही पहला संगठन था और इसकी सफलता

का सेहरा महा मन्त्री सत्वेन्द्र के सिर था। उनकी मेहनत, पा'दर्शी दृष्टि, महान् व्यक्तित्व और उज्जवल हृदय के बिना यह कार्य कभी सिरे नहीं चढ़ सकता था। संयुक्त राजस्थान, महा मन्त्री सत्वेन्द्र का, सारे राजपूतों और भारत के सिर अहसान है आग उनकी यह सफलता भारतीय इतिहास में सदा एक बड़ी ऊंची पदवी पाएगी।

# ३५

अथक कार्य और विश्राम के अभाव ने महामन्त्री को चूर-चूर कर दिया था और अन्त में उन्हें चारपाई की शरण लेनी पड़ी।

इस आयु में जितनी भाग-दौड़ और दिमागी मेहनत वे कर रहे थे, उससे बड़ा हृष्ट-पुष्ट मनुष्य भी बहुत देर नीरोग नहीं रह सकता था। महा मन्त्री को पिछले कुछ साल से सर्दियों में कभी २ खांसी का दौरा हो जाता था, पर उन्होंने कभी भी आठ-दस दिन से अधिक आराम नहीं किया था। पिछले साल उन्हें लगभग आधी शीत बिस्तर में बितानी पड़ी थी और अब यही रोग बढ़ता २ दमा का रूप धारण कर गया। हकीम ने इसका एक इलाज बताया; पूर्ण आराम, और इसके लिए महा मन्त्री को कोई भी मजबूर न कर सका।

नये सिरे से एक दिन मैंने महा मन्त्री को फिर मजबूर किया। इतना मजबूर, कि वह बच्चे की जिद लगी। मुझे याद है, महा मन्त्री मेरी जिद पर मन में बहुत खुश हुए, पर अन्त में गम्भीर होकर उन्होंने यह उत्तर दिया, "मेरी आयु अब बहुत अधिक हो गई है। मैं महसूस कर रहा हूं कि मुझ में जीवन का सामना करने का साहस

और बल नहीं । मैं दूसरा बार उठने के लिए खाट पर नहीं लेटूंगा, अब मैं जब भी चारपाई पकड़ूंगा, वह सदा, सदा के लिए होगी। जितनी देर मुझ में शक्ति है मुझे देश की सेवा कर लेने दो । भविष्य मुझे बहुत निराश कर रहा है। शोक !———

उन्होंने मेरी ओर टकटकी लगा कर देखा और आह भरी।

जिसने भारत की प्राचीन महानता को पहचाना है और आज की ढहती कलाओं का दर्शक है वह जान सकेगा कि इन शब्दों का मेरे पास सिवाए एक आह और दो आँसूओं के और कोई उत्तर नहीं था।

* * *

अब राजस्थान की स्थापना हुए दो अढ़ाई वर्ष बीत चुके थे। मैं पैंतीस वर्षों का होने को आया, और महामन्त्री सतहत्तर सालों के। सारा मध्य भारत एक संयुक्त संगठन में सम्बधक था। सुदूर बलेश्वर की पूर्वी सीमा से लेकर तागेड़ के पश्चिमी कोने तक और उधर राजगढ़ की उत्तरी सीमा से महा नन्दक की दक्षिणी पहाड़ियों तक। महामन्त्री जी ने सुन्दर राजनीति से और मैंने सैनिक संगठन से राजस्थान को सचमुच ही एक व्यक्ति बना दिया था। दिल्ली और लाहौर अपने असंख्य समूहों से उत्तर की ओर से घेरा डाल कर उतरने वाले थे और राजपूत-इतिहास में पहली बार और शायद अन्तिम बार, उनसे सही अर्थों में टक्कर लेने के लिए पूर्णतया तैयार थे।

इन दिनों में ही महामन्त्री सत्येन्द्र ने अपने कथनानुसार फिर कभी न उठने के लिए खाट पकड़ ली।

वे दिन याद करके मेरे नयनों में, ये शब्द लिखते हुए, आँसू छलक आए हैं।

सुबह का वक्त था। मैं नीलकंठ पर प्रभात की सवारी करके

अभी लौटा ही था कि महामन्त्री का बुलावा आया। मैं पहुंचा। वह लेटे हुए थे। मुझे देख कर मुसकराए और मैं उनके पास पलंग पर बैठ गया। मैं उदास था। मैं जान गया था कि उन्होंने मुझे किस लिए बुलाया है।

"पुत्र कुमार," उन्होंने मेरे कन्धे पर हाथ फेरते हुए कहा, "आज से मैं जीवन के कर्म-क्षेत्र को त्यागता हूं। समय आ गया है, मैं चलने-फिरने से असमर्थ हूं। तू जानता है न, कल मेरी सतहत्तरवीं वर्षगांठ है। मैं अभी कुछ देर और जीऊंगा, अलग होकर ज़िन्दगी को देखने को जी करता है। क्या मैं अपने सारे जीवन की मेहनत के उपलक्ष्य में इस चाह को पूर्ण करके अपने मन को सन्तुष्ट करने का अधिकार रखता हूं कि नहीं ?" वह फिर मुसकराए।

"महा मन्त्री.........।" मैंने कहा।

"पुत्र, उदास न हो......कभी हौसला न हारना, दुःखी न होना, चिन्ता न करनी, यही सच्चे और स्वाभिमानी राजपूत की जीवनी है, मेरे वीर पुत्र। मैं जानता हूं जो दुःख तुझे होगा और तू कैसा एकाकी महसूस करेगा, पर मैं अपनी चारपाई से हर अवसर पर तुम्हारी और दूसरों की सहायता करता रहूंगा।"

उसी दिन ही मैं उन्हें अपने घर ले आया। यह निमन्त्रण वह देर से अस्वीकार करते आए थे। और एक तरह वह ठीक थे। महा मत्री और महा सेनापति को एक जगह रहना उचित न था। वह तो अब भी इन्कार करते थे और मैं भी उनके इन्कार के आगे झुकने ही वाला था कि ज्योति बीच में आ गई—"पिता जी" उसने कहा, क्या अब भी आप हमें अपनी सेवा का अवसर नहीं देंगे ? यह हमारे साथ अन्याय होगा। और हम अपने आपको इस असावधानी के लिए कभी क्षमा न कर सकेंगे।"

और महा मन्त्री को 'हाँ' करनी पड़ी।

× × ×

मैंने अपने काम के अतिरिक्त महा मन्त्री जी का काम भी सम्भाल लिया। भले ही सरकारी तौर पर आगामी छः सात मास के लिए वही महा मन्त्री रहे। इसके बाद महाराज सुन्दर कुल ने राजस्थान की प्रथम समिति में नये महा मन्त्री के लिए मेरा नाम ही प्रस्तुत किया। सारी समिति ने एक स्वर से 'हां' मिलाई। संयुक्त राजस्थान की सेना की भी सारी जिम्मेवारी मेरे सिर पर रही, और मैं ही समिति के आगे सैनिक मामलों में देनदार था, पर रोजाना और नियम के काम-काज के लिए सेनापति हरकिशन सिंह को तांगेड़ से बुला लिया गया। और उनकी जगह सचखंडा के एक बृद्ध सरदार विजय सिंह ने ले ली।

जो सम्मानित स्थान मुझे राजस्थान की प्रथम समिति ने दिया, उससे मैंने बहुत भरा-भरा महसूस किया और आज तक करता आया हूं। यह आदर उन प्रतिनिधियों की ओर से निजी नहीं, उनकी राजधानियों की ओर से था और मैंने भी ऐसा ही अनुभव किया। मैं केवल उनका ही धन्यवादी नहीं--राजस्थान में बसते एक-एक मनुष्य का धन्यवादी था। सारे राजस्थान, लगभग सारे भारत देश ने मुझे ऊंचा आदर बख्शा था।

बाद में सारे देश के पहले समूचे दौरे पर जहां-जहां भी गया, वहां २ ही हर बच्चे, जवान और बूढ़े ने मेरा प्यार-भरा स्वागत किया। वह प्यारा देश! वह प्यारी जनता! मैं दिल से महसूस करता हूं कि मेरी सेवा, इस आदर और सम्मान के बराबर न आज तक हुई है और न ही कभी होगी!

भले ही मैं महा मन्त्री नियत हुआ, पर वास्तव में सारा काम चलाते रहे महामन्त्री सत्वेन्द्र ही। हर विशेष बात, हर कठिनाई,

हर समस्या के वक्त मैं उनकी सहायता के लिए उनके सिरहाने जा बैठता था और वह भी मुझे इनका हल बताते थे।

राजनीति मेरे रक्त में रची नहीं। मेरे लिए राज्य-कार्य के मामले बड़े पेचीदा और अपरिचित हैं। मैं सैनिक हूं और सेना का नेतृत्व करते हुए ही मैं अपने वास्तविक रंग में होता हूं।

यह ठीक है कि मैंने राजनीतिक विषयों में कोई अधिक भूलें नहीं कीं और जब कभी भी महामन्त्री ने मुझ से मेरी राय पूछी है, वह सदा उनकी अपनी राय से भी बहुत भिन्न नहीं हुई, तो भी मैं ऐसे काम-काज में सन्तुष्ट नहीं रहता हूं। मेरा विश्वास है कि जो काम करने के योग्य है, वह अच्छी तरह करने के योग्य है, वैसे ही जैसे जो वचन देने के योग्य है, वह निभाने के योग्य भी अवश्य है।

पैंतीसवें साल के आदि से सैंतीस के अन्त तक का समय मेरे जीवन का सबसे कठिन समय था। ये तीन साल थे, जब मैंने सीमातीत परिश्रम किया। मैं हर समय किसी न किसी काम में व्यस्त रहता था। इन तीन सालों में मैंने दो बार सारे भारत देश का घोड़े पर चक्कर लगाया। मुझे याद है, कई-कई बार तो मैंने एक-एक दिन में सौ-सौ मील सफ़र किया।

* * *

अभी तक महा मन्त्री हमारे पास अमरावती ही रहे थे। उन्होंने कई बार विजयपुर जाने की इच्छा प्रकट की थी, पर ज्योति और मैं लटकाते ही आए। अन्ततः उन्होंने ज़ोर देकर कहा, "नहीं जानता बच्चो, किस दिन बुलावा आ जाय, और मैं अपनी मातृ-भूमि से दूर अपने प्राण छोड़ना नहीं चाहता।" इसके आगे हमारे सारे तर्क निर्मूल और अनावश्यक थे। ज्योति महा मन्त्री जी को लेकर विजय नगर चली गई। कपिला भी साथ में गई और हेमन्त मेरे पास अमरावती में ही ठहरा।

महा मन्त्री विजय नगर गए और मेरा भी देर-देर तक अमरावती में रहना कठिन हो गया। महीने में कम से कम एक बार मुझे विजयनगर जाना अवश्य पड़ता था और सच तो यह है कि जो दिन भी महा मन्त्री से दूर गुज़रता था, उनकी याद मुझे सताती ही रहती थी।

संयुक्त राजस्थान में महा मन्त्री, सेनापति और अन्य मंत्रियों की स्थिति पांच वर्षों के लिए नियत की गई थी, भले ही भिन्न-भिन्न राज्यों के सदस्य हर तीसरे वर्ष बदल जाते थे। मेरे पाँच साल पूरे होने को आए थे। मैं बहुत थक गया था और कुछ समय के लिए फ़ुर्सत से आराम करने का इच्छुक था।

महाराजा सुन्दरकुन्न और शेष सब सदस्य मुझे आगामी पांच सालों के लिए फिर से महा मन्त्री चुनने के लिए ज़ोर लगा रहे थे, पर मैं न माना। शारीरिक और मानसिक थकान के साथ मैं चूर-चूर था और मैं ज्योति से सहमत था कि वे पाँच साल सम्पूर्ण करने के बाद यदि मैंने फिर काम जारी रखा तो यह मेरा अपनी ज़िन्दगी के साथ द्रोह होगा।

अन्ततः सेनापति हरकिशन को मेरा काम सम्भालने के लिए नियुक्त किया गया। और फ़ैसला हुआ कि समय पाकर सेनापति हरकिशन महा मन्त्री का पद सम्भालें और सेनापति त्रिभुवन महा सेनापति बने!

* * *

आज मेरे पांच साल पूरे होने में एक महीना भर शेष था कि महा मन्त्री सत्येन्द्र की सेहत बहुत ख़राब हो गई और ज्योति की राय के अनुसार मेरा विजय नगर रहना बहुत आवश्यक हो गया। इस तरह मैं महा मन्त्री जी का हाल पूछने गया फिर अमरावती न लौटा।

महा मन्त्री जी बहुत कमजोर हो चुके थे। भले ही उनके चेहरे पर उनकी विद्वता और व्यक्तित्व का वही तेज बिखरा रहता था, किन्तु वह अब चलने-फिरने से मजबूर हो चुके थे। अधिक से अधिक वह घर के आंगन में दो-चार क़दम इधर-उधर टहल लेते थे।

जब कभी मैं अलग बैठ कर महा मन्त्री जी को आंगन में धीरे-धीरे डग भरते हुए देखता, तो मेरा दिल भर आता। मेरा हृदय उनके प्यार और आदर से भर जाता। उनके हल्के-हल्के क़दमों तले मुझे धरती निराशा और विवशता में कांपती हुई लगती थी। अधिक देर के लिए अब धरती इन क़दमों की गति का सम्मान न कर सकेगी। उनके शरीर के गिर्द मैं भारत वर्ष की महानता घूमती हुई देखता था और मुझे महसूस होता था कि अदृश्य भुजाएं और मुसकराते होंठ उनको प्यार और सत्कार के साथ सुशोभित करने के लिए उनके मस्तक और शीश के गिर्द परिक्रमा कर रहे हैं।

हमारे इतिहास में महा मन्त्री सत्येन्द्र एक व्यक्ति हैं जिन पर अतीत और भविष्य का भारत मान कर सकता है।

इन दिनों में ही देर के बाद ज्योति और मैं फ़ुर्सत में अकेले और इकट्ठे हुए। महा मन्त्री जी की बीमारी ने हम दोनों में एक नवीन कोमलता और स्वच्छता बिखेर दी थी, जिसके कारण हमने अपने जीवन का एक स्वस्थ और अनजाना रस प्राप्त किया।

कपिला हमारी बेटी, हमारे साथ थी। वह अब बड़ी हो गई थी और ज्योति के प्रभावाधीन हर समय उसकी पतली, लम्बी, नाजुक उंगलियां रंगों से रंगी रहती थीं। उसके मुंह पर बहुत बार लाल, गुलाबी, काशनी, रंगों के निशान होते थे और जब हम उसका ध्यान उधर दिलाते थे, तो वह कहा करती थी, "क्यों? क्या मेरा मुंह उन चित्रों के मुखों से बुरा है? मैं क्यों न रंगी जाऊं!"

महा मन्त्री जी ने अपनी दोनों बेटियों को मिलने के लिए

विशेष इच्छा प्रकट की। गीता और शशी दोनों आई, पर जहाँ शशी जल्दी ही लौट कर आने का वचन देकर चली गई; वहां गीता विजय नगर ही रही। हम सभी सन्तुस्ट थे। महा मन्त्री जी की बीमारी के होते हुए भी क्योंकि इस से अगली तब्दीली बड़ी भयानक होनी थी। भविष्य का भय वर्तमान के दुःख से अधिक तीव्र था, और हमारी इच्छा थी कि यही आस पास की स्थिति, यही सब कुछ, चिरन्तन हो जाय।

किन्तु बड़ी भोली इच्छाएं और बड़े विचित्र और हास्यास्पद सपने होते हैं मानव-मन के ? असम्भव को माँगता है मन, अनहोनियां सोचता और विचारता है मनुष्य ! वास्तविकता से मुंह छिपाना उसका नियम है। वह अपने डरों और शंकाओं पर पर्दे डालकर अपनी ओर से उन्हें छिपाए रखना चाहता है। किन्तु असफल ! हर स्वप्न हर इच्छा मे असफल। होनी को कोई बन्धन डाल कर रोक नहीं सकता।

वह दिन जल्दी ही आ गया, जब महा मन्त्री सत्वेन्द्र ने अपने अन्तिम श्वास भरे और वह दिन भी, जब हमें सदा के लिए छोड़ जाने के पहले वह मेरे जीवन को एक उत्तम और सम्पूर्ण कहानी बना गए।

# ३६

जाकिर अली और मुहम्मद्दीन के साथ राजस्थान की टक्कर मेरी मेहनत और मेरी सफलता का अन्तिम उत्थान थी।

समय के गुजरने से मनुष्य के विचार, दृष्टिकोण, और उसकी आकांक्षाएं नया रूप धारण कर लेता हैं और उसके मूल्य मूलत: बदल जाते है ! जब मनुष्य पर्याप्त आगे निकल जाता है, और पीछे मुड़ कर दूर तक देखता है तो उसे पहले वर्षों की तीव्रता और वेग बहुत अपरचित लगता है।

मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। पर उन युवक वर्षों की निशानी एक शौक अवश्य मेरे साथ रहा है, चाव ! जिस काम में हाथ डाला जाय, उसे सफल बनाने के लिए एक तीव्र चाव—यही मेरी समझ में जीवन-सफलता की कुंजी है। बिना इस तीव्र चाव के कोई मनुष्य किसी भी क्षेत्र में महानता के आदि-स्थान पर नहीं पहुंच सकता। सैनिक, व्यापारी, कला-कार, प्रत्येक के हृदय में चाव का चिर स्रोत बहता हुआ होना चाहिए। तीव्र चाव किसी भी शुरू किए काम की सफलता का पहला चरण है।

सालों के बीतने से दृष्टिकोण और मूल्य बेशक बदल जायं, पर अपने शुरू किए कामों के लिए रुचि कम नहीं होनी चाहिए। मैंने महामन्त्री सत्वेन्द्र के जीवन को पढ़ा है। राजस्थान दृढ़ चरणों पर कभी खड़ा न होता, यदि महा मन्त्री का चाव उनके साथ ही बूढ़ा हो गया होता। वह चाव ही बुढ़ापे में भी जवानी और बचपन को साथ लिए फिरता है।

आज भले ही उनतालीस वर्ष पूरे करने पर आया हूं, तो भी आवश्यकता के समय मेरा चाव उतना ही तीव्र होता है, जैसा कि जवानी के दिनों में। इसी चाव का अति सुन्दर उदाहरण है ज्योति, जिसे जीने का चाव है। शेष पथ तो हर सफलता के साथ समाप्त हो जाते हैं, और उन्हें फिर कोई नया प्रारम्भ करना पड़ता है, परन्तु जीने का चाव अमर है। कई बार मैं सोचता हूं कि मुझे भी ज्योति की भांति यदि जीने का चाव होता, मैं अवश्य उसके साथ पूरा इन्साफ कर सकता, अब तो यही मेरी अधूरी आशा है, अधूरी सफलता उसके बिना समय-समय की उदासी मेरे लिए अत्यन्त बोझिल हो जाती है।

* * *

इस महान युद्ध की कहानी बड़ी लम्बी, बहुत आकर्षक और बहुत मान भरी है! जैसे ही इस युद्ध की याद आती है, अनायास ही सागर पर लहराती हवा की तरह एक मुसकराहट मेरे होठों पर लहरने लगती है। नयन तारों से परिचय बढ़ाते हैं और मेरा अन्दर बाहर भर जाता है। इस युद्ध और इस युद्ध की चर्चा हम सैनिकों के लिए तो प्रिय होनी ही थी, प्रत्येक भारतवासी इसकी वार्ता सुन कर सम्मान से प्रसन्न न हो उठे, तो अचम्भा होगा।

जिस समय मैं ये पंक्तियां लिख रहा हूं तो न केवल मेरा मन अपितु मेरी लेखनी भी इतनी तेजी से बढ़ती जा रही है कि मैं चकित

हूं। मेरा दिल धड़क रहा है। मेरे शरीर में लहरें उठ रही हैं, इतनी तेजी से कि इस जीवन-कहानी का कोई और पृष्ट नहीं लिखा गया। मेरे यह लिखने के चाव से अनुमान किया जा सकेगा कि उस युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए मेरे चाव की तीव्रता की कौन सीमा या बाँध होगा ?

महा मन्त्री सत्वेन्द्र जैसा आशावादी मनुष्य कोई अन्य कम ही होगा। किन्तु उन्होंने इस विजय का समाचार सुन कर लिखा, "कुमार सिंह, मैंने कभी अपने सारे जीवन में ऐसे प्रसन्न-पलों का स्वप्न नहीं देखा था। इस युद्ध के प्रारम्भ के बाद मुझे हर घड़ी यही भय होता था कि कोई न कोई आज या कल अपने भाइयों के सम्मुख उठा। अपने मरण से पहले राजपूती-संगठन को महानता का शिखर चूमते देख कर मैं खुशी के साथ पुनः पुनः अवाक रह जाता हूं।"

मैं कैसे भूल सकता हूं, पूर्णिमा की वह रात, जिस दिन अपनी सेना के साथ मैं दिल्ली से केवल डेढ़ सौ और लाहौर से लगभग चार सौ मील दूर बैठा था। यह अन्तर राजस्थान की विजयी सेना के आगे बहुत महत्व नहीं रखता था। हम पिछले एक महीने में दो हजार वर्ग मील की भूमि मुसलमानों से स्वतन्त्र करा चुके थे अभी भी मेरी सेना के पांव डगमगाए न थे। उस सन्ध्या मुहम्मद्दीन ने सुलह का सलाम मेरे पास भेजा था और उसी शाम जाफिरअली की आत्म हत्या का समाचार भी ही हमारे पास पहुंचा।

मुहम्मददीन ने लिखा था कि यदि आज्ञा हो तो वह स्वयं हमारे पास चल कर आए। उधर जाफिरअली के बिना लाहौर प्रान्त का सारी सेना टूट-बिखर रही थी।

मैं अपने सरदारों के बीच था और उनके गिर्द थी जयकार बुलाती राजपूत सेना। राजस्थान भारत देश, मेरी और अन्य

सेनापतियों की जय-जयकार दूर दिल्ली के उनींदे निवासियों के कानों में गूंजती होगी। कैसे भुलाई जा सकती है वह पूर्णिमा की रात और कौन अनसुनी कर सकता है उन जयकारों की चिर गुंजार? कैसे न ये पंक्तियाँ लिखते हुए मेरा दिल धड़के, मेरे अंग फड़कें और मेरा रोम-रोम कांपे?

काश··· ·········काश ·········दिल्ली और लाहौर, एक बार विजयपुर और अमरावती से दूर न रह जाता।

परन्तु महा मन्त्री सत्येन्द्र की दलीलें उचित थीं। वह पारदर्शी, दूरदर्शी नेता अपनी मिसाल आप थे। आगे बढ़ना उचित न था। जितना इलाका हमारे हाथ में आ चुका था, उसे सम्भालने के लिए ही अपेक्षित हाथ ढूंढने कठिन नजर आते थे और फिर राजपूत! हार में तो हुआ, विजय में कितनी देर संयुक्त रह सकते थे? मैं और महा मन्त्री पहले ही चारों दिशाओं से सुन चुके थे कि इस विजय में अमुक राजधानी का हिस्सा दूसरे से अधिक है! ओ राजपूत! कभी तू अपने साथी, जाति और देश के लिए आप भुला सकता········· !

इस युद्ध में साथी सैनिकों के दृष्टि-कोण में कुछ परिवर्तन अवश्य देखा गया है। यही भविष्य में मेरी आशा का स्थान है। समय अवश्य आएगा जब समूची शक्ति राजाओं-महाराजाओं के हाथों से निकल कर जनता के हाथों में इकट्ठी हो जायगी और तब तांगेड़ जैसी कहानी कभी दोहराई न जा सकेगी। एक राजा और उसके चार साथियों ने मिल कर तांगेड़ को ऐसी स्थिति में ला खड़ा किया कि शेष राजस्थान के लिए तांगेड़ को पहचानना आवश्यक हो गया। तांगेड़ के निवासी महावीर के विरुद्ध होते हुए भी उसे रोक न सके। किन्तु पीछे जाकर जब अवन्तीपुर का जैमल और महानन्दक का दलपत राजस्थान से अलग होने का ढकोसला खड़ा करने लगे तो

वहां की सेना और निवासियों ने एकत्र होकर इसका विरोध किया।

यदि मुसलमानों के बढ़ते दलों के आगे भारत को झुकना न पड़ा तो जनता में शीघ्र ही उत्तरदायित्व पहचानने और अपने ऊपर लागू होते फैसलों के विषय में जांच-पड़ताल करने और उनमें अपेक्षित भाग लेने का अनुभव जाग पड़ेगा। और अन्त में यही कुछ सम्पूर्ण लोक राज का रूप धारण करेगा। किन्तु यदि हमारे दुर्भाग्य से मुसलमान भारत पर कब्जा करने में सफल हो गए तो कौन जाने भारत की उन्नती कितनी सदियां पीछे पड़ जाय। परन्तु मैं वह आशामय समय अपनी आंखों के आगे चित्रित कर सकता हूं, जब भारत पराधीनता के अपयश को अपने वस्त्रों से झाड़ कर फिर सम्मान से संसार मे अपनी जगह सम्भालेगा, जब यह धरती फिर से उसकी अपनी होगी और यह आकाश उसका अपना।

* * *

इस युद्ध की लम्बी कथा इस कांड या इस पुस्तक का भाग नहीं बनेगी। थोड़े से पृष्ठों में मैं इस कहानी से न्याय नहीं कर सकता। और फिर लगभग आधी "अमर ज्योति" इस युद्ध की वार्ता ही तो है।

यहां इतना कहना ही काफी होगा कि इस युद्ध का आरम्भ तांगेड़ और फरीदाबाद की सीमा से हुआ। राजस्थान की संयुक्त सेना की संख्या बाईस हजार सात सौ थी। इसके सम्मुख दिल्ली और लाहौर के लगभग पचास हजार मुसलमान थे। सब्र, साहस और चढ़ती कलाएं, अपने से दुगुने और अच्छे शस्त्रों वाले शत्रु पर विजय पाने का वास्तविक कारण थे। जो प्रशंसा राजस्थान के भिन्न-भिन्न नेताओं ने मेरे और मेरे नवीन और मौलिक दृष्टिकोण पर न्योच्छावर की है, वह भी सारे सैनिकों के हौसले और जोश के बिना व्यर्थ जानी थी। सरदार की सफलता सेना की सफलता है और सेना की सफलता सरदार की असली सफलता है।

सारी मुसलमान सेना राजपूतों को सचखंडा तक ठेल देने पर तुली हुई थी। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि इस लड़ाई के समाप्त होने पर मुसलमान सारे भारतवर्ष के स्वामी हो जाएंगे।

इस युद्ध में मुहम्मद्दीन के दिमाग और उसकी सजगता की प्रशंसा करने से रहा नहीं जाता। वृद्ध होने के बावजूद भी उसने बड़ी चालाकी और सयानप के साथ अपनी सेना को सम्भाला। किन्तु जाफिर अली इस्लामी नशे में अन्धा हुआ, पग-पग पर अपनी सेना को नीचा दिखाता आया। कभी उसकी भुजा खाली थी और कभी उसकी छाती नंगी। कभी विजय के प्रेत के पंजों में फंसा वह सेना को अनहोनियां करने के लिए कहता था और कभी डर ग्रसित वह अवसर खो देता। कैसे बुरा नेता अच्छे सैनिकों को कुठौर फेंक देता है, यह लड़ाई इसका सुन्दर नमूना थी।

मैं भी अपनी सारी लड़ाइयां जाफिर अली ही को देता आया और मुहम्मद्दीन के साथ सिवाए एक बार बड़ी हाथापाई करने के मैं मुंह मोड़ता रहा। भले ही मुहम्मद्दीन को यह स्पष्ट ज्ञात न हुआ। हर इक्का-दुक्का लड़ाई के बाद मैं कृत्रिम दिखावे और एक दो घातक मुठ-भेड़ों से मुहम्मद्दीन को जाफिर अली के साथ ही पीछे हटने पर मजबूर कर देता था। उधर जाफिर अली का पलड़ा सदा इतना हल्का होता था कि मुहम्मद्दीन का कोई और सयाना सेनापति अज्ञान में छलांग नहीं मार सकता था। बाद में पहली बड़ी लड़ाई में हमारे हाथ देखने के बाद मुहम्मद्दीन आवश्यकता से अधिक डरता रहा और यह अवश्य उसकी एक बड़ी भूल थी। युद्ध की अन्तिम लड़ाई वास्तव में मुहम्मद्दीन के साथ हुई और उस लड़ाई में ही असली अर्थों में मुहम्मद्दीन और मैं आमने-सामने हुए। मैं खुश हूं कि इस लड़ाई ने मुझे सब से अधिक सोचने और अपनी चालें बदलने पर मजबूर किया।

युद्ध की समाप्ति पर जब मुहम्मद्दीन सन्धि की शर्तों पर विचार करने के लिए हमारे पास आया, तो मेरे दृष्टिकोण से युद्ध की अधकचरी झांकी सुन कर वह अवाक् मेरी ओर देखने लगा। वह सोच रहा था कि यदि यह बात है तो राजपूत कठिन ही बचे। किन्तु मैं मुसकरा रहा था। यदि मुहम्मद्दीन किसी दिव्य ज्ञान से यह सब पहले ही जानता होता, तो भी मैं बता रहा था कि राजपूत इस युद्ध में विजवी ही होते।

इस युद्ध के कारण सारा फरीदाबाद, लाहौर प्रान्त और दिल्ली का थोड़ा-थोड़ा इलाका हमारे हाथ आया, और मेरा एक मित्र और परम सैनिक साथी यशपाल राजस्थान की ओर से इसका अधिकारी नियुक्त हुआ। इस युद्ध के अन्त से १६वीं शती का अन्त हुआ और मैंने अपनी आयु के सैंतीसवें वर्ष का स्पर्श किया।

# ३७

"पुत्र कुमार" महा मन्त्री जी ने एक शाम मुझे भेद भरे स्वर में कहा, "मेरी विदा का समय निकट आ गया है। अब मैं अधिक देर आपके प्यार का पात्र नहीं बन सकूंगा।"

"पिता जी······" मैंने सिसकी लेते हुए कहा।

सर्दियों की ऋतु लौट आई थी, और सदा की तरह, महा मन्त्री जी की तकलीफ बढ़ गई थी। यह शीत की ऋतु! इसके साथ मेरे निजी जीवन की लगभग सभी घटनाएं सम्बन्धित हैं। पिता जी की मृत्यु, नालकंठ का सदा के लिए बिछुड़ना, रोहिणी का सम्बन्ध, ज्योति से प्रेम का प्रारम्भ, ज्योति और मेरी जीवन-गांठ और अन्त में महामन्त्री जी की मृत्यु यह सब कुछ सर्दियों के मौसम में ही घटित हुआ। इस प्रस्तुत जीवन-कहानी का अन्त भी सर्दियों के मध्य में ही हो रहा है।

हम सभी को भय था कि महा मंत्री यह सर्दियां मुश्किल से ही निकालेंगे। वह स्वयं भी समय २ पर हंसते, मुसकराते, प्यार करते हुए अपनी विदा की ओर संकेत करते रहते थे, पर आज जैसी गम्भीरता उनके भाव में पहले कभी नहीं आई थी।

ज्योति और मैं देर से महा मंत्री जी को 'पिता जी' कह कर बुलाते थे और मुझे अच्छी तरह याद है कि जिस दिन से हमने उनको पिता जी कहना शुरू किया था, उस दिन से ही उनके चेहरे, बातचीत और हाव-भाव में हलकापन आ गया था ! यों लगता था जैसे उनकी आयु कई वर्ष बढ़ गई हो ! आज उनके सम्बोधन से मुझे लगा, जैसे उन्होंने लम्बी चिन्ता और सोच विचार के बाद मेरे साथ कोई विशेष बात करने का फैसला किया हो !

"और कुमार .....," उन्होंने मेरी सिसकी के उत्तर में कहा "ज्यों-ज्यों मेरे अन्तिम दिन नजदीक आते जाते हैं, मेरी सहने और सन्तोष करने की शक्ति घटती जाती हैं, और आज .....मैं तुम्हें यह सब कुछ बताने से नहीं रह सकूँगा।

"पिता जी......"मेरा उत्तर था और मैं कहना चाहता था कि इतने गम्भीर होकर बातें न करो। कमजोरी बहुत ज्यादा है। किंतु वह न माने।

"मैंने बहुत सब्र किया है और अपने आप पर बहुत अत्याचार। पन्द्रह वर्ष से तुझे अपनाता हुआ भी अपना नहीं सका। तुझ से उत्कट करते हुए भी और तेरा प्यार स्वीकार करते हुए भी मैं तुम्हारे और अपने मध्य वह अंतर नहीं मिटा पाया, जो........."

महामन्त्री चुप हो गए। फानूस का मंद प्रकाश था। कमरा छोटा था परन्तु भरा-भरा सा। तकिए की टेक लगाए तख्त-पोश पर महा मन्त्री और मैं सटे बैठे थे। उन्होंने मेरी ओर देखा। उनकी भवें अब सफेद हो चुकी थीं। उनकी पवित्र दाढ़ी पहले ही सफेद थी और उन्होंने सिर पर ज्योति के हाथों बनी, सफेद ऊन की अति सुन्दर टोपी पहनी हुई थी। बच्चों जैसा दैवी भोलापन और कोमलता बिखरी थी। किन्तु उनकी आँखें, कितनी अथाह......मैं कई जन्मों

में भी इनका पारावार नही पा सकता। उन्होंने मुझे अर्द्धालिंगन में ले लिया। मैंने प्यार, आदर, भय और शंका में पिघल कर अपने आपको उनके अर्पण कर दिया, और आवेश में कहता गया "पिता जी, पिता जी......।"

"यदि मैं अब भी तुम्हें यह भेद न बताऊं कुमार, तो भी कुछ नहीं बिगड़ेगा। और बनना तो अब है ही क्या? किन्तु मैं मजबूर हूं? मेरी स्थिति को भूल कर देश और जाति के लिए की मेरी सेवा को और महान भारत मे मेरी बिखरी महानता को विस्मृत कर आज तू मुझे एक मनुष्य के रूप में देख, मेरे पुत्र! एक मनुष्य अपने सारे दोष, कमजोरियों और अभावों के साथ। अपने अस्सी वर्षो के जीवन में आज पहली बार मैं अपने मनोवेगों के आगे विवश रहा हूं, कुमार......।"

"कहो, पिता जी, जरूर कहो," मैंने उनके वृद्ध और कमजोर शरीर को अपने ढीले से आलिंगन की गर्मी देते हुए कहा। मुझे याद आए हमारे प्रथम मिलनों के वे दिन। अनेक बार मैंने देखा था कि महा मन्त्री कुछ कहते–कहते रुक जाते थे। उनके होठों तक कोई बात आती थी, किन्तु अक्षरों का रूप धारण नही करती थी। मैंने उनसे कई बार पूछा था, "पिता जी, आप कुछ कहते-कहते क्यों रुक जाते हैं?" वह मुसकरा कर टाल देते थे। बड़ी मुश्किल से वर्षो बाद उनकी यह झिझक खत्म हुई थी। आज मेरी वह स्वाभाविक उत्सुकता अन्तिम चढ़ाव पर थी। आखिर आज वह कुछ कहने लगे थे।

"मेरे प्रिय कुमार, पुत्र कुमार..." महा मन्त्री जी की वाणी रूद्ध हो गई। उनके नयन, ओफ! उनके नयन! उनमें आंसू नहीं भरे थे, वहां कुछ और था। नहीं कह सकता क्या? और उन्होंने मुझे जकड़ लिया, अपनी छाती से लगा लिया। बड़े जोर से जकड़ा, बड़े प्यार और उत्साह से। नीरोग होते हुए भी कभी उन्होंने मुझे इतने

ज़ोर से नहीं आलिंगन किया था। उनकी तीव्रता और उनका प्यार देख कर मेरी आँखें भी गीली हो गईं। मैंने भी उन्हें कस लिया, और उन्होंने अपना आलिंगन तब तक ढीला न किया, जब तक वह वस्तुतः थक न गए।"

अनेक बार मैंने सोचा कि क्या महामन्त्री के लिए वह भेद बताना उचित था। किन्तु उनके इस व्यवहार की याद मेरा दिल मोम कर देती है। उचित या अनुचित, योग्य या अयोग्य मेरे महान पिता तुम्हारा प्यार, तुम्हारा उत्साह सब योग्यताओं और अयोग्यताओं को अपने में समेट सकता है !

"पिता जी...पिता जी...कहो पिता जी कहो न..." हमारे आलिंगन के बीच ये शब्द कठिनता से ही उन तक पहुंच सके।

"जरूर कहूंगा, कुमार जरूर कहूंगा" उन्होंने अपना आलिंगन ढीला किया, खोला, अपने दोनों हाथ मेरे गालों पर रखे और मेरी आंखों में एकटक देखते हुए उन्होंने ये शब्द कहे। वे शब्द कहे, जिन्होंने मेरा सैंतीस साल का सारा वास्तविक जीवन एक कहानी बना दिया।

उन्होंने वे शब्द कहे; एक–एक करके अतीत की अगणित झांकियां नए रंगों में; नए चौखटे में जुड़ी सुन्दर बन-बन कर मेरी आंखों के सम्मुख बिचरने लगीं। क्यों महामन्त्री जी पहले-पहल पग-पग पर झिझका करते थे ? क्यों, जानते हुए भी कि वह और परमेन्द्र ही सरदार मानसिंह की मुसीबतों का कारण थे, मैं प्रयत्न करने के विपरीत भी अपने मन में उनके विरूद्ध कोई वैर-भाव न जगा सका ! क्यों गीता और शशी को मिलते ही हमारे मध्य अनोखा अपनत्व जाग पड़ा, और क्यों उनकी माता सबिता की बातें बार २ करने में मुझे आनन्द मिलता था ? क्यों महामन्त्री जी ने मेरे और ज्योति के मिलन में विशेष दिलचस्पी ली ? क्यों मुझे राजस्थान और भारत में एक अत्युच्च स्थान तक पहुंचाया ? क्यों ज्योति और मेरे, उन्हें

पिता जी कहने पर, वह बड़े हल्के-हल्के महसूस करने लगे ? क्यों मेरे लाडले हेमन्त और कपिला तथा महा मन्त्री में सचमुच ही दादा-पौत्र और पोत पौत्रियों जैसा दैवी स्नेह था ?

महा मन्त्री—पिता जी ने—मेरे गालों को दाबते हुए मेरे नयनों में एकटक देखते हुए कहा—

"पुत्र कुमार, तू सरदार मान सिंह का नहीं, मेरा पुत्र है——"

मैं सरदार मान सिंह का नहीं, महामन्त्री सत्वेन्द्र का पुत्र हूं——! पिता जी का नहीं, पर पिता जी का——जैसलमेर ——जैसलमेर——और सरदार मान सिंह, पिता जी——प्यारे पिता जी——ओफ़——।

मैंने महा मन्त्री के हाथों को अपने कपोलों पर से हटा कर अपनी पीठ पर रखा और मैंने पिता जी को दाब लिया……पिता जी को दाबा, सरदार मानसिंह और महा मन्त्री सत्वेन्द्र को दाबा ! माता चन्द्रिका और माता सविता को दाबा ! मैंने उनकी कोख, उनकी गोद की गर्मी अनुभव की ! मैं उन कुछ पलों में कई बार जिया—अपनी सारी आयु, अपने सारे मनोभाव, अपने सारे जज़्बे !

पिता जी ने मुझे संज्ञा-हीन होने से बचाया। उसके आलिंगन की उष्णता, उनके चाव और प्यार की बहुलता ! वाह, महा मन्त्री सत्वेन्द्र ! वाह, मेरे महान पिता !

लगभग एक शताब्दी जितने लम्बे अरसे के बाद महा मन्त्री-पिता जी ने मुझे होले-होले, मीठे २, नर्म २, स्नेहिल शब्दों में संक्षेप में, यह कहानी सुनाई :—

"सरदार मानसिंह और मैं मित्र थे। इतने गहरे मित्र तो नहीं, किन्तु एक दूसरे के लिए कुछ कर सकने की चाह रखने वाले। मेरे हृदय में सरदार मानसिंह के लिए गहरा सम्मान था।

"एक लम्बी बीमारी के कारण श्रीमती चन्द्रिका बहुत कमज़ोर और शिथिल शरीर की थीं। उनके दो बच्चे हुए, परन्तु दोनों में से एक भी अधिक देर के लिए जीवित न रह सका। पहली बार, सरदार मान सिंह के न जानते हुए, उसी रात जन्मी सरदार समुन्द सिंह की लड़की को श्रीमती चन्द्रिका की झोली में डाल दिया गया।

"उसका नाम उन्होंने सँयुक्ता रखा। दूसरी बार जब उनके बच्चा हुआ, तब तू एक दिन का था। तुम्हारी माता ने तुम्हारे जन्म के कुछ पल पीछे प्राण त्याग दिए थे। श्रीमती चन्द्रिका अपने बच्चे का मुंह देखने के लिए उत्तेजित थी। निश्चित था कि उनकी इस इच्छा की अपूर्ति उनका अन्त होगी, परन्तु अन्त उनका हर हालत में हो गया। भाग्य से सरदार मान सिंह तब दक्षिण में एक विद्रोही हुए सरदार को झुकाने में व्यस्त थे। उन्होंने एक–दो दिन तक आना था। देर तक सोचने के बाद फैसला हुआ कि तू श्रीमती चन्द्रिका को उनका बच्चा बन कर दिखाई दे, सरदार मान सिंह के लौटने तक तुझे लौटा लिया जायगा पर····· आशा के प्रतिकूल सरदार मान सिंह नियत समय से पूर्व ही लौट आए।

श्रीमती चन्द्रिका उनसे मिलीं और तुझे उनके हाथ सौंप वह स्वयं भी अन्तिम नमस्कार कह गई, और तू···············सरदार मान सिंह का पुत्र बना।

"इस रहस्य का पता केवल कुछ मनुष्यों को ही था। उन्हें पक्का किया गया। मैं, शशी और गीता तुझे सदा के लिए मान सिंह को सौंपने के लिए आधे राज़ी हो गए।

"परमेन्द्र और सरदार मान सिंह में सेना की सरदारी के लिए पहले ही अनबन थी। इसकी कहानी बड़ी लम्बी है, मैं तुझे सुना नहीं सकूंगा। गीता जानती है, यदि तू अवश्य जानना चाहे तो। परमेन्द्र

सरदार मान सिंह से तुझे छीन लेने के लिए सदा प्रयत्न करता रहा, और अन्ततः उन्हें विजय पुर छोड़ना पड़ा।

परमेन्द्र यही चाहता था। मेरे पास परमेन्द्र के कर्मों के लिए कोई क्षमा नहीं। मेरे पास जितनी शक्ति थी, मैंने उसे सुधारने पर लगाई, किन्तु उसकी नाड़ी जन्म से ही भिन्न और निराली थी। काश! परमेन्द्र भी तुम्हारी तरह महान् व्यक्ति होता। परन्तु······ कुमार पुत्र··· ·····उसे क्षमा कर देना·········आखिर वह तुम्हारा भाई था, मेरा पुत्र और अपनी माता सविता का लाडला।"

"और आज·····आज ····," पिता जी की आवाज बहुत धीमी हो गई, उनका गला भर आया। वह बहुत थक चुके लगते थे। वह कोई सहारा ढूंढते दिखाई दिए। मैंने उन्हें अपनी गोद में लिटा लिया, और उनकी आंखों की पलकें बन्द हो गईं। देर बाद ज्योति अंदर आई। हमने उन्हें पलंग पर लिटाया······ ··फिर वह वहां से न उठ सके।

उसके तीसरे दिन महा मंत्री सत्येन्द्र हमें और सारे भारत देश को अकेला छोड़ कर चले गए।

* * *

कौन यह कांड पढ़ कर कह सकेगा कि मेरी यह जीवन-कहानी वस्तुतः सत्य है!

# ३८

इस घटना की वर्षगाँठ इसी मास के अन्त में होगी । और अगले महीने मैं अपने उनतालीस वर्ष समाप्त करूंगा ।

शीत की सर्द ऋतु है ।

ये ऋतुएं किस तरह किसी अमर नियम में बंधी मनुष्य और मनुष्य के अहसासों से बेलाग लौट-लौट कर आती हैं ! समय की गति कभी नहीं चूकती, कभी नहीं रुकती; कभी नहीं थकती । मनुष्य चलते-चलते बढ़े हो जाते हैं; थक, लुट, टूट, समाप्त हो जाते हैं । किन्तु फिर भी परम्परा से इसका साथी मनुष्य इसके अपने काम साथ होता है । जब कभी से, अपने आत्मीय मित्रों और सम्बन्धियों से अलग होकर मनुष्य-जीवन, समय और जगत के विषय में सोचें तो यह सब आडम्बर एक तमाशा लगता है, यह लीला और मिलन किसी एक स्वर की ताल पर नाचता......।

किन्तु मैं अधिकतर अकेला होकर इस जैसी कभी समझ न आने वाली समस्याओं पर समय व्यर्थ ही नहीं गंवाता । मैं अपने देश का सिपाही हूं । मैं अपनी प्रिय ज्योति का कुमार हूं । मैं अपने मित्रों,

सम्बन्धियों और अपने देश की जनता का दुःख और प्यार के भेदों का ज्ञाता हूं। मैं जानता हूं कि मैंने अभी बहुत कुछ करना है। यदि और किसी को नहीं, तो भारत और ज्योति को अभी मेरी बहुत आवश्यकता है।

विजय नगर में अपने घर के लिखने के कमरे में बैठा मैं ये पंक्तियां लिख रहा हूं। हमारा यह कमरा छोटा है, किन्तु इसमें बैठा मैं बहुत बड़ा महसूस करता हूं। एक ओर मेरी पुस्तकें और रचनाएं हैं और दूसरी ओर हैं ज्योति की चित्रकारी की सामग्री, उसकी पुस्तकें और उसके वाद्य यन्त्र। पिछले दो सालों में इस स्थान से मेरा हार्दिक प्रेम हो गया है।

यह रोज की जगह है। ज्योति जानती है कि आज मेरी जीवन-कहानी का अन्त हो रहा है। वह भी आज अपना एक चित्र पूर्ण कर रही है, उसका अपना हेमन्त, कपिला और मेरा एक सामूहिक चित्र। इस जीवन-कहानी के आदि से उसने इस चित्र का प्रारम्भ किया था मेरे लिए वह उसकी पूर्णता लटकाती आई है।

ज्योति मेरी प्रेरणा है; मेरी आशा है। उसकी प्रेरणा के बिना मुझसे ये पुस्तकें लिखी ही न जाती थीं और उसके आशा-स्वरूप साथ और के बिना भविष्य ने भी उतना उत्तेजित नहीं करना था।

प्रिय हेमन्त और कपिला के विषय में मैंने बहुत कुछ नहीं कहा। भले हीं वे इस जीवन-कहानीं के पर्याप्त पृष्ठों पर अधिकार रखते हैं। हेमन्त और कपिला ने मुझे ज्योति की भांति पग-पग पर आशा और प्रसन्नता का सन्देशा दिया है। हेमन्त लगभग मुझ पर गया है और कपिला ज्योति पर; भले ही इसके प्रतिकूल प्रभावों की छाया भी कहीं-कहीं मिलती है। यह प्रभाव जहां भी दृष्टिगोचर हो, जब भी कहीं पड़े, तभी उन दोनों की सुन्दरता में बहुत वृद्धि होती है। कई

बार सोचता हूं कि यदि ये प्रेमी-जीव मेरे आस-पास न होते, तो मैं अपने जीवन से क्या न कर गुजरता।

ज्योति, ज्योति की संगीत-प्रतिभा और उसकी चित्र-कला ने मुझे दुःख, उदासी और निराशा बिखेरने नहीं दी और फिर भी आश्चर्य की बात है कि ये तीनों भाव बहुत बार मुझ पर अधिकार जमा लेते हैं।

मेरा ख्याल है कि कोई मनुष्य भी कभी न कभी इन भावनाओं की लपेट से बच नहीं सकता। यदि किसी और कारण से नहीं, तो इसी कारण से ही कि कोई उसे प्यार करता है! इन भावनाओं के सम्मुख उसकी कमजोरी ही उसके प्रिय के प्रेम को प्रकाशित करती है! ज्योति की उपस्थिति का चिर आभास होते हुए भी मैं उदासी और निराशा से पल्ला नहीं छुड़ाता। मेरे अचेतन में सदा यह ख्याल होता है कि ज्योति अवश्य मेरी सहायता करेगी।

हेमन्त आजकल अमरावती में है, मित्र हरकिशन के पास वहाँ ही मैं समझा हूं उसकी राजनीतिक और शस्त्र–शिक्षा उच्च–स्तर की हो सकती है। हेमन्त को भी मैंने केवल आठ साल अपने हाथों से शिक्षा दी। न जाने क्यों, उसके आगे मैं उसे अपने आप पर छोड़ देने पर मजबूर हो गया।

कपिला सदा की तरह हमारे पास ही है। प्यारी कपिला आठ वर्ष की होने को आई है, किन्तु वही पांच वर्ष का सा भोलापन है।

सेनापति भगवान् सिंह, श्रीमति कुशेमराँ, उनके विक्रम, भूपेन्द्र और उपेंद्र; माता कांता, पृथ्वीसेन, गीता, शशी और चितरंजन की इन पृष्ठों में कभी उनकी मेरे जीवन में कमी की सूचक नहीं। अपितु ज्यों-ज्यों इस कृति से दूर रहे हैं, वे मेरे जीवन के निकट आ रहे हैं।......और अभी कौन जानता है कि भविष्य के पर्दे में क्या २ छिपा है। न ही मेरी इस जीवन-कहानी का अंत मेरे जीवन का अन्त

है। मैंने इसे लिख दिया है, क्योंकि मेरे पास समय था, फुर्सत थी और पहली कुछ पुस्तकें लिखने से मैं लिखने के मूड में था। इसके अतिरिक्त मैं बचपन की स्मृतियों और सुंदर स्वादों पर लम्बे वर्षों की धूलि नहीं पड़ने देना चाहता था। यदि आयु ने साथ दिया तो समय पाकर इस जीवन-कहानी का दूसरा भाग लिख कर इसे सम्पूर्ण करूंगा और यदि नहीं तो कम से कम उनतालीस वर्ष तक का वर्णन रहेगा ही। अपनी शेष पुस्तकों की भांति प्रस्तुत पुस्तक को। सभी पाठकों की भेंट करने की मेरी नीयत नहीं।

# ३६

संयुक्त राजस्थान के महा मंत्री और महा सेनापति का पद सम्भालते हुए मैंने कई नए विभागों की नींव रखी और कई पुरानों को कुछ अदला–बदली से पुनः स्थापित किया। इनमें से कुछ आवश्यक विभाग थे, केंद्रीय संस्कृति सभा, भारतीय कला मंदिर, सैनिक कला सम्मेलन, केंद्रीय व्यापार मंडल। क्रमशः इनकी स्थापना करने के उपरांत एक दिन वृद्ध महाराज सुंदर कुल ने मुझ से कहा, 'कुमार सिंह, काश! भारत एक होता और तू उसका प्रथम नेता।"...और मेरी आकांक्षा और मेरी सड़ा देने वाली चाह कभी-कभी मुझे यहां घाट पर आहें भरने पर मजबूर कर देती है।

इन विभागों ने राजस्थान और इसके कारण सामूहिक भारतीय संस्कृति और सैनिक संगठन की नींवों को मजबूत करने में बड़ी सहायता पहुंचाई है। यदि जल्दी ही मुझे देश की आवाज ने यह विश्राममय जीवन त्यागने पर मजबूर न कर दिया, तो अपनी अगली पुस्तक में इन विभागों और राजस्थान के समूचे राज्य-निर्माण का खोल कर वर्णन करूँगा।

राजस्थान से मेरे सरकारी तौर पर अलग हो जाने के बाद यदि किसी विभाग ने पहले जैसा ठोस काम चालू रखा है, तो वह केन्द्रीय संस्कृति सभा और भारतीय कला मंदिर हैं, और इसका कारण ज्योति और चित्तरंजन का सुंदर नेतृत्व है, जो कि क्रमश: इन विभागों के प्रधान और सैक्रेट्री हैं। अभी तक भी प्रति वर्ष राजस्थान के बड़े २ शहरों में कला समागम रचाए जाते हैं, जहां हजारों की संख्या में राजपूत एकत्र होते हैं, कलाकारों को आर्थिक सहायता दी जा रही है और साहित्य तथा चित्रकला के अच्छे ख्यात नामी व्यक्तियों को जनता के हाथों में पहुंचाने के लिए विशेष योजनाएं बनाई गई हैं। ज्योति ने लगभग सारे राजस्थान का दौरा किया है और जहाँ-जहाँ भी वह गई, वहाँ के निवासियों को एक नया जीवन दे आई है।

कई बार मैं ज्योति से कहता हूं, "ज्योति तुम मेरे से भी अमर होगी," तो वह मुसकरा कर कह छोड़ती है "जी" ! "जी" ! कभी मुंह बना कर, कभी ऐसे ही और कभी किसी तरह। बिलकुल मेरे शब्दों के लहजे के अनुसार ज्योति का काम मेरे काम से अवश्य चिरंजीव होगा। मैं जानता हूं कि राजपूत सदा राजसी क्षेत्र में सफल नहीं रहेंगे। यदि उनका समूचा राज्य भी छिन जाय तो बड़ी बात नहीं, परंतु मुसलमानों या किसी और के सदियों के निर्दयी राज्य से भी भारतीय संस्कृति और प्रतिभा जीवित रहेगी और उन परम्पराओं में ही ज्योति मुझ से आगे हैं। जहां शायद हेमंत असफल रहे वहाँ कपिला सफल हो जाय।

यदि भारत राजनीतिक क्षेत्र में पराधीन हो भी गया तो भी विजेता की संस्कृति और सभ्यता भारतीय संस्कृति और सभ्यता को नीचा न दिखा सकेगी। और जैसे आज तक भारत सब विदेशियों को भले ही वे विजेता थे या नहीं, एक अपना ही भाग बना लेता रहा है, वैसे ही

भविष्य में प्रत्येक बाहर से आई जाति या धर्म इसी विशालता का ही एक भाग बना रहेगा।

भारत गिर-गिर कर उठेगा, मर-मर कर जीएगा, कुछ वर्षों या कुसौ वर्षों की बदनामी और घबराहट के बाद, फिर पूर्णतया तैयार, आशा-स्वरूप हो मुसकराएगा। अतीत की दृढ़ नींवों पर संतुष्ट सदा भविष्य की ओर आशामय दृष्टि से निहारेगा।

इस कहानी का अंत करते हुए सहज ही एक २ करके पुराने दिनों का आंखों के आगे मूर्तिमान होना स्वाभाविक है और धीरे-धीरे अपने जन्म से लेकर आज तक के सारे साल क्रमश: फिर से जी रहा मैं यह पृष्ठ लिख रहा हूं।

कितनी सुन्दर है जीवनी मेरी ? कितना सुन्दर ! ख्याल आता है कि सौ वर्ष का अंतर डाल कर यदि मैं स्वयं ही पढ़ूं, तो कभी यकीन न होगा कि यह सारी की सारी सच्ची और वास्तविक है। हां पर मैं जानता हूं इसकी सच्चाई और इसकी वास्तविकता को, मैं अच्छी तरह जानता हूं। मैंने इसे आप जी कर देखा है।

इस वक्त सारा जीवन, जीवन की सारी स्मृतियों, सारे साथी मित्र, प्यारे एक ही बार दूर भी लगते हैं निकट भी—एक-एक वाक्य लिख कर मैं मिनिटों तक आँखें मूंद कर सारा अतीत फिर फिर जीता हूं।

जीवन के सम्बन्धियों में से कई, जिनका रिश्ता इस कहानी से बहुत नज़दीकी हो गया है, सदा के लिए बिछुड़ गए हैं। महान् महा मंत्री सत्येन्द्र, अलौकिक सरदार मान सिंह, प्यार-भरा, स्नेह-भीगा, बाँका, छबीला नीलकंठ, विद्वान् और गुणवान् राणा सवाए सिंह, और इनसे दूर दूसरी ओर माता सविता और माता चन्द्रिका, और इन दोनों की परम्परा में ही, भले ही वे जीवित हैं, रोहिणी और

शकुन्तला। इनका वियोग जीवन में न पूरा होने वाली एक खाई छोड़ गया है। किन्तु यदि ज़िन्दगी में यह खाइयाँ न हों, तो ज़िन्दगी पके फलों की भांति अधिक देर डाल के साथ लगी न रह सके। और इस तरह दिन गुज़र रहे हैं; साल गुज़र रहे हैं! कोई नवजन्मा बालक अपनी बालवस्था में मुग्ध है; कोई जवानी चढ़ रहा है; कोई वृद्ध हो रहा है।

यही ज़िन्दगी है। नित्य भरी जाती है और फिर भी खाली रहती है; नित्य खाली होती है और फिर भी भरी रहती है।

मुसलमान अपनी पिछली बड़ी हार खाकर फिर तैयार न हो सके। फिर भी एड़ियाँ उठा-उठा कर वे पूर्व में बंगाल और दक्षिण में राजकुमारी की ओर देख रहे हैं। किन्तु मैं दृढ़ निश्चय कर चुका हूं कि मेरे जीते जी मुसलमान अपनी सीमाओं से बाहर पांव नहीं रखेंगे। पर मैं कितनी देर और जीऊंगा, मैं क्या कह सकता हूं?

शोक! मेरे प्रिय देश, शोक! मेरी वली जाति, कोई तुम्हें आ रहे भविस्य के लिए कोई वचन नहीं दे सकता।

इधर राजस्थान के संगठन में दरारें लक्षित हो रही हैं। महाराजा सुन्दर कुल और सेनापति हर किशन सिंह की मेहनत और प्रयत्नों के विपरीत भी संगठन अटल न रह सका। राजस्थान की उच्च सभा ने फिर मेरी मांग की है और मुझे लगता है कि मैं अब अधिक देर विजयनगर में नहीं रह सकूंगा। क़लम में मेरे हाथों और बांहों के लिए पूर्ण सन्तोष नहीं। जितना कुछ लिख चुका हूं, इसकी भी कभी आशा न की थी।

परन्तु मेरा विश्वास है कि यदि देश को ग्रहण लगा, तो भी चिरन्तन न होगा। दस–बीस वर्ष तक न सही, सत्रहवीं–अठारवीं उन्नीसवीं सदी तक न सही, पर कभी समय पाकर निःसन्देह गगन और पृथ्वी पर पूर्णिमा नए तेज से भर यौवन में मुसकराएगी।

भारत फिर से जवान होगा । भारतवासी फिर से आकाश में हिस्सेदारी डालेंगे । दो-चार सौ वर्ष भारत जैसे अगम्य और अथाह देश के इतिहास में क्या मूल्य रखते हैं ?

समय पाकर फिर कोई महात्मा बुद्ध, अशोक और महामंत्री सत्वेन्द्र की आत्मा लेकर जन्म लेगा और अवश्य कभी कोई विक्रमादित्य या हर्ष का रूप धारण करके अमर भारत से मिलने आएगा ।